

नायिका

[द्वितीय भाग]

सम्पादक

डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र,

एम० ए०, डी० लिट०

अमृता साहित्य सदन, जबलपुर

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182614

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP- 68-11-1-68-2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H81.08** Accession No. **H3578**
M 67K
Author **मिश्र, बलदेव प्रसाद, संया.**
Title **काव्य-कौक . n.d .**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रमुख विक्रेता—

लोकचेतना-प्रकाशन

(बिक्री-विभाग)

टुबे बिल्डिङ्ग, राइट टाउन,

जबलपुर

प्रथम संस्करण : १०००

मुद्रक

बालगोविन्द गुप्त,

शुभचिन्तक प्रेस, जबलपुर

मूल्य

ढाई रुपया

प्रकाशकीय

‘काव्य-कल्लोल’ के द्वितीय भाग में हिन्दी के कुछ आधुनिक प्रतिनिधि कवियों की कविता के भावपूर्ण अंश और उनका गम्भीर आलोचनात्मक परिचय संकलित है।

हमारा सौभाग्य है कि हमें इस कार्य के लिए प्रसिद्ध विद्वान और कवि डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र की स्वीकृति मिली और उन्होंने पूर्ण स्वस्थ न होते हुए भी हमारी प्रार्थना मानकर हमारे लिए यह काव्य-संकलन तैयार किया। हिन्दी के विद्यार्थियों, अभ्यापकों और कविता-प्रेमियों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष होता है। इस कार्य के लिए डाक्टर मिश्र से अधिक अधिकारी व्यक्ति मिलना कठिन था। उनकी काव्य-ममज्ञता और आचार्यत्व इस संकलन की श्रेष्ठता और उपयोगिता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

हमें आशा है विश्व-विद्यालयों में इस संग्रह का उचित स्वागत और सम्मान होगा।

अनुक्रमणिका

१	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	...	...	१
२	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	...	...	१३
३	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	...	...	२८
४	मैथिलीशरण गुप्त	...	...	४१
५	माखनलाल चतुर्वेदी	...	...	५६
६	जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	६६
७	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	...	...	७७
८	सुमित्रानन्दन पन्त	...	...	८०
९	महादेवी वर्मा	...	...	१०६
१०	रामकुमार वर्मा	...	...	११६
११	द्वारकाप्रसाद मिश्र	...	...	१३१
१२	हरिवंशराय 'बच्चन'	...	...	१४३
१३	रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	...	...	१५४

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व था। हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास में उन्होंने बहुत काम किया। एक प्रकार से उन्हें आधुनिक हिन्दी-गद्य का जनक कहा जा सकता है। हिन्दी-गद्य को सुव्यवस्था के राज-पथ पर उन्होंने ही परिचालित किया और अपनी कृतियों द्वारा—विविधतामयी सृष्टि द्वारा—अपने युग के अनेक लेखकों को गद्य-निर्माण की प्रेरणा दी। हिन्दी नाट्य-मंच की स्थापना का उन्होंने पूरा यत्न किया और उनके नाटक जनता के हृदय को सीधे स्पर्श कर सके। उनके जानदार गद्य ने गद्य को अभिव्यक्ति के प्राणवान माध्यम के रूप में हिन्दी में प्रतिष्ठित किया। साथ ही कवि के रूप में भी भारतेन्दु की देन हिन्दी को बहुत बढ़ी है।

पद्माकर के बाद हिन्दी-कविता की रीतिकालीन—शृंगार - प्रधान परम्परा बहुत कुछ निष्प्राण हो गयी थी। काव्य की भाषा भी नव जीवन और लोक-भाषा की शब्दावली का नया संस्कार चाहती थी। विषयों की परिमिति इतनी रूढ़ हो गयी थी कि कविता अपना आकर्षण खोती जा रही थी और अंग्रेज जाति के शासन, संस्कृति और साहित्य के सम्पर्क में आने के बाद जनता जैसे साहित्य में भी एक नवीनता चाहती थी। भारतेन्दु ने हिन्दी काव्य की धारा में देशकाल के अनुकूल नये-नये विषयों जैसे देश-प्रेम, देश-हित, समाज-सुधार, अतीत - गौरव एवं सभ्यता के प्रति वेदना एवं अभिमान की भावना आदि का समावेश किया। साहित्य को—कविता को उन्होंने व्यापक सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया और देश की गरीबी, शोषण और सांस्कृतिक अधःपतन का द्रावक चित्रण उनकी कविता में हुआ। वे

अत्यन्त सहृदय एवं भावुक कवि थे। राजसी कुल में जन्म पाकर भी उनके भीतर जनता की अनुभूतियों को आत्मसात करने की क्षमता थी। इसीसे उन्होंने जहाँ-जहाँ उस समय होने वाले अंग्रेजों द्वारा भारत के औपनिवेशिक शासन का वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ उसमें एक आत्मिक वेदना और काव्यात्मक सच्चाई है।

काव्य की भाषा ब्रजभाषा का भी भारतेन्दु ने संस्कार किया। उसे वे बोल-चाल के अधिक निकट ले आये और बहुत से पुराने पड़े हुए शब्दों का फिर से प्रयोग चालू कर ब्रजभाषा को साफ-सुथरा रूप दिया। शब्दों की कलाबाजी की ओर उनकी प्रवृत्ति न थी। श्लेष आदि चमत्कारों के वे कायल न थे। वे तो मानवी प्रकृति की कोमल वृत्तियों के पारखी थे। इसीलिए ब्रज-भाषा में उन्होंने ठाकुर, घनानन्द, पद्माकर आदि की परम्परा का निर्वाह किया और मर्मस्पर्शी कवित्त-सवैया लिखकर चारों ओर प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रेम की पीड़ा और निष्कपट अभिव्यक्ति उनके इन छंदों में भरी पड़ी है। भारतेन्दु के घर में बल्लभ सम्प्रदाय के अनुकूल कृष्णोपासना चलती थी। अष्टछाप के नन्ददास आदि कवियों का उन पर पूरा प्रभाव था। कृष्ण-भक्त कवियों की रचना माधुरी में उनका अत्यन्त कोमल हृदय प्रेम-मग्न था। इसलिए उनके ये छंद प्रेमी हृदय की तीव्रानुभूति और रसात्मकता से परिपूर्ण हैं।

दूसरी ओर भारतेन्दु स्वदेश-प्रेम आदि पर नये ढंग की रचनाएँ भी रचते रहे और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के शिष्ट और जाग्रत वर्ग में भी कविता के प्रति अनुराग जगाते रहे। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के भीतर नव युग की नूतन प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। कविता के भाव-क्षेत्र में भी वे नये-नये आदर्शों की प्रतिष्ठा कर चले और भूषण की कविता के बाद हिन्दी-भाषी जनता को एक नये प्रकार की राष्ट्रीयता के स्वर सुनने को मिले। दृष्टिकोण की यही नवीनता हम इस कवि द्वारा किये गये शृंगार-रस के वर्णन में भी पाते हैं। प्राचीन रीति-

परम्परा को त्याग कर उन्होंने स्वच्छन्द भावना को अपनाया और प्रेम पर अत्यन्त मर्मस्पर्शी सवैये लिखे । उनका वियोग शृंगार का वर्णन भी बड़ा टीस भरा और करुण है; साथ ही भारतेन्दु ने हिन्दी-कविता को अन्य रूढ़ियों से भी मुक्ति प्रदान की । अभी तक हिन्दी-कवियों का प्रकृति-वर्णन अत्यन्त संकुचित और बँधी परिपाटी पर चल रहा था । कवियों द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणों का प्रयोग या तो अलंकार-विधान के लिए होता था या फिर नायिका भेद में उद्दीपन विभाव के रूप में । स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण का प्रायः अभाव सा था । भारतेन्दु ने इस कमी को अनुभव किया । स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की उन्होंने परम्परा चलायी । यद्यपि अपने हृदय की अनुरागात्मक भावनाओं के साथ वे अपने प्रकृति-चित्रण को अधिक समन्वित नहीं कर पाये पर उसमें तटस्थता और वर्णन की निर्दोषता का सौन्दर्य है । केवल प्रकृति के कोमल और मनोरम रूपों का ही नहीं विकराल और वीभत्स रूपों का उनका वर्णन भी अत्यन्त रसपूर्ण है । रस के अनुरूप वातावरण की सृष्टि कवि के वर्णनों का साकार एवं प्राणपूर्ण बना देती है ।

भारतेन्दु तत्कालीन समाज में प्रचलित कुप्रथाओं के बड़े विरोधी थे । वे सच्चे रूप में समाज-सुधारक थे । जातीय उत्थान के उस युग की राष्ट्रीयता आज जैसी जाग्रत और उद्बुद्ध नहीं थी । भारतेन्दु ने आजीवन प्रगति को शक्तियों का साथ दिया और भारत की दयनीय दशा से व्यथित रहे । पर कविता की दृष्टि से उनके काव्य का वही अंश सरस है जो प्रेमानुभूति या रूप-पूजा को लेकर चला है । उनकी देश-भक्ति और राष्ट्रीय जागरण की कविता तो एक प्रकार से प्रयोगात्मक अवस्था में है । उसकी भाषा भी मिश्रित होने के कारण साहित्यिक सौष्ठव से न्यून है ।

गङ्गाछबि

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक-सी सोहति ।

बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति ॥

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।

जिमि नर-गन-मन विविधि मनोरथ करत मिटावत ॥

सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत ।

दरसन-मज्जन-पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥

श्री-हरि-पद-नख-चंद्रकांत मनि द्रवित-सुधारस ।

ब्रह्म - कमंडल - मंडन, भव - खंडन सुर - सरबस ।

शिव - सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फन ।

ऐरावत - गज - गिरि - पति-हिम-नग-कंठहार कल ॥

सगर - सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारन ।

अगनित धारा रूप धारि सागर सचारन ॥

कासी कहैं प्रिय जानि ललकि भेंट्यो उठि धाई ।

सपनेहू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई ॥

कहैं बंधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।

कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत ॥

धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुआ पताका ।

घहरत घंटा - धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥

मधुरी नौबत बजत, कहैं नारी-नर गावत ।

वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जांगी ध्यान लगावत ॥

कहुँ सुदरी नहात बारि कर - जुगुल उछारत ।

जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥

धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत ।

बारिध नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ॥

सुन्दर सति मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।

कमल - बेनि लहलही नवल कुमुमन मन मोहत ॥

दीठि जहीं जहँ जात रहत तित ही ठहराई ।

गंगा-छबि हरिचन्द कछू बरनी नहि जाई ॥

स्फुट छन्द

(१)

पूरन सुकृत - फल श्रीभट गुगलजू के,

भक्त महिपाल जू के संकट - समनजू ।

दौरे गजराज - काज लाज राखी द्रौपदी की,

धार्यौ गिरिराज देव - मद के दमनजू ॥

निज दासी दीन-दुख हरन चरन चारु,

सुख के करन सदा संपदा - भमनजू ।

मुरली - लकुटधारे, चन्द्रिका - मुकुटवार,

दुरित हमारे दरो राधिका-रमनजू ॥

(२)

जिय पै जु होइ अधिकार तो बिचार कीजै

लोकलाज भलो बुरो भले निरधारिये ।

नैन श्रौन कर पग सबै परबस भये

उतै चलि जात इन्हें कैसे कै सम्हारिये ॥

‘ हरीचन्द ’ भई सब भाँति सों पराई हम

इन्हें ज्ञान कहि कहां कैसे कै निवारिये ।

मन में रहै जो ताहि दीजिये बिसारि मन

आपै बसे जामें ताहि कैसे कै बिसारिये ॥

(३)

सुन्दर सचिक्कन सुदार स्याम सोहै महा,

कोटि लावन्य - धाम लटक निज अंग की ।

कोमल चरन कौल नटवर ढोर मोर,
 पोर - पोर छोरै छबि कोटिन अनंग की ॥
 बंक गति लक तें सुअंक लौं तिरीछे ठाढ़े,
 मृदु कर कान्हें मुद्रा बेनु के प्रसंग की ।
 कुण्डल भवन सीस चन्द्रिका नमन, जै जै,
 राधिकारमननाल, ललित त्रिभंग की ॥

(४)

इन दुखियान कों न मुख सपने हूँ मिल्यो
 योंही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी ।
 प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औध जो पै
 जैहैं प्रान तऊ ये तो साध न समायँगी ॥
 देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं याते
 जौन जौन लोक जैहैं तही पछितायँगी ।
 बिना प्रानप्यारे भये दरस तिहारे हाय
 देखि लीजौ आँखैं ये खुनी ही रहि जायँगी ॥

(५)

थाकी गति अंगन की मति परि गई मन्द,
 सूखि भाँभरि-सी हूँ कै देह लागी पियरान ।
 बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी कहूँ छीनि लई,
 सुख के समाज जित-तित लागे दूर जान ॥
 'हरोचन्द' रावरे बिरह जग दुखमयो,
 भयो कछु और होनहार लागे दिखरान ।
 नैन कुम्हिलान लागे बैनहुँ अथान लागे,
 आवौ प्राननाथ, अब प्रान लागे मुरझान ॥

(६)

भूली सी भ्रमी सी चौकी जकी सी थकी सी,
 गोपी दुखी सी रहति कछु नाहि सुधि देह की ।

मोही सी लुभाई कछु मोदक से खाये सदा,
 बिसरी सां रहै नेक खबर न गेह की ॥
 गिस भरी रहे कवौ फूली न समाति श्रद्ध
 हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की ।
 पूछे ते खिसानी होय उत्तर न आवै ताहि,
 जानी हम जानी है निसानी या सनेह की ॥

(७)

ब्रजवासी बियोगिन के घर में, जग छाँड़िकै क्यों जनमाई हमै ।
 मिलिबां बड़ी दूरि रह्यो 'हरिचन्द', दई इक नाम-धराई हमै ॥
 जगके सिगरे मुख सों ठगिकै, सदिवे को यही है जिवाई हमै ।
 केहि बैर सों दाय दई बिधिना, दुख दखिन्ह हा कों बनाई हमै ॥

(८)

रोकहि जो, तौ अमंगल होय, औ प्रेम नसै, जां कहैं 'पिय जाइए'
 जां कहैं 'जाहु न'—तौ प्रभुता, जो कछु न कहैं, तौ सनेह नसाइए ॥
 जां 'हरिचन्द' कहैं 'तुम्हरे विन, जीहैं न'—तौ यह क्यों पतियाइए ।
 तासों पयान समै तुम नैं हम, का कहैं प्यारं, हमैं समुझाइए ॥

(९)

व्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम, कोऊ तौ नैकु दया उर लावौ ।
 प्यासी तजौं तनु रूप-मुधा बिनु पानिय पी कौ पर्पाहं पिआवौ ॥
 जीय में हौंस कहैं रहि जाय न, हा ! 'हरिचन्द' कोऊ उठि धावौ ।
 आवै-न आवै पियारो, अरे ! कोउ हाल तौ जाइकैं मेरो सुनावौ ॥

(१०)

दीनदयाल कहाइकैं धाइकैं दीननि सों क्यों सनेह बढ़ायौ ।
 त्यों 'हरिचन्द' जू, बेदनि में करुनानिधि, नाम कहौ क्यों गनायौ ॥
 ऐसी रुखाई न चाहिए तापै, कृपा करिकैं जेहि कों अपनायौ ।
 ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यौ, तो 'गरीब-नेवाज' क्यों नाम धरायौ ॥

(११)

यह संग में लागियै डोनेँ सदा, बिन देखै न धीरज आनती है ।
छिनहुँ जो वियोग परै 'हरिचन्द' तो चाल प्रलै की सु ठानती है ॥
बरुनी में फिरै न भूपै उभपै, पल में न समाइबो जानती है ।
पिय प्यारे, तिहारे निहारे बिना, अँखियाँ दुखियाँ नहि मानती है ॥

(१२)

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन हैं, हमहूँ पहिचानती है ।
पै बिना नँदलाल बिहाल सदा, 'हरिचन्द' न ग्यानहि ठानती है ॥
तुम ऊधौ ! यहै कहियौ उनसों, हम और कछु नहि जानती हैं ।
पियप्यारे, तिहारे, निहारे बिना, अँखियाँ दुखियाँ नहि मानती हैं ॥

(१३)

सब आस तौ छूटी पिया-मिलिबे की, न जाने मनोरथ कौन सजै ।
'हरिचन्दजू' दुःख अनेक सहै, पै अड़े हैं टरै न कहूँ को भजै ॥
सब सों निरसंक हूँ बैठि रहै, सो निरादर हूँ सों कछु न लजै ।
नहि जानि परै, कछु या तन कों, केहि मोह तें पापी न प्रान तजै ॥

(१४)

हाय ! दसा यह कासों कहों, कोउ नाहि सुनै जो करै हूँ निहोरन ।
कोउ बचावनहारो नदी 'हरिचन्दजू', यों तो हितू हैं करोरन ॥
सो सुधि कै गिरिधारन की, अब धाइकै दूरि करौ इन चोरन ।
प्यारे, तिहारे निवास की ठौर कों, बोरत है अँसुवा बर-जोरन ॥

(१५)

केहि पाप सों पापी न प्रान चलै, अटके कित कौन विचार लयौ ।
नहि जानि परै 'हरिचन्द' कछु, बिधि ने हम सों हठ कौन ठयौ ॥
निसि आजहुँ की गई हाय ! बिहाय, बिना पिय कैसे न जीव गयौ ।
हतभागिनी अँखिन सों नित के, दुख देखिबे को फिरि भोर भयौ ॥

(१६)

जानत ही नहिं हों जग में, किहि कों सबरे मिलि भाखत हैं मुख ।
चौकत चैन को नाम सुनै, सपनेहुँ न जानत भोगन कौ रुख ॥
ऐसेन सों 'हरिचन्दजू' दूरहि बैठनां, का लखनो न भनो मुख ।
मो दुखिया के न पास रहो, उड़िकैं न लगै तुमहूँ को कहूँ दुख ॥

(१७)

वह सुन्दर रूप बिलोकि सखी, मन हाथ तें मेरे भग्यौ सों भग्यौ ।
चित माधुरी मूगति देखत ही, 'हरिचन्दजू' जाय पग्यौ सौ पग्यौ ॥
मोहि औरन सों कछु काम नहीं, अब तौ जां कलंक लग्यौ सों लग्यौ ।
रँग दूसरां और चढ़ैगो नहीं, अलि, साँवरो रंग रँग्यौ सों रँग्यौ ॥

पद

रहे यह देखन कों दृग दाय ।

गये न प्रान अबौँ अँखियाँ ये जीवति निरलज होय ॥
सोई कुंज हरे-हरे देखियत, सोई सुक, पिक, कीर ।
सोई सेज परी सुनी छै, बिना मिले बलबीर ॥
वही भगोखा, वही अटारी, वही गली वही साँझ ।
वहै नाहि जो बेनु बजावत, ऐहैं गलियन माँझ ॥
ब्रज हूँ वही, वही गौँ ये, वही गोप अरु ग्वाल ।
बिडरे सब अनाथ-से डोलत व्याकुल बिना गुपाल ॥
नंद-भवन सुनो देखत, क्यों गयौ नहीं हिय फाट ।
'हरीचन्द' उठि बगहि धावाँ, फेरहु ब्रज की बाट ॥

सखी, यह अति अचरज की बात ।

गोप सखा अरु गोगन लै जल, राम-कृष्ण बन जात ॥
बेनु बजावत मधुरे सुर सों, सुनकैं ता धुनि कान ।
भूलि जात जग में सब की गति, सुनत अपूरब तान ॥

वृच्छन को रोमांच होत है, यह अचरज अति जान ।
 थावर होइ जात है जंगम, जंगम थावर मान ॥
 गोबधन कंधन पै धारें फंटा छुकि रह्यो माथ ।
 मत्त भृंगुजुत है बनमाना, फून्छ्यो पुनि हाथ ॥
 वेनु बजावत गीतन गावत, आवत बालक सग ।
 'हरीचंद' ऐसी छवि निरखत, बाढ़त अंग अनंद ॥

भरोमो रोभन ही लखि भारी ।

हमहूँ को विश्वास होत है मोहन पतित उधारी ॥
 जाँ ऐसो सुभाव नहि हो तो, क्यों अहीर-कुल भायो ।
 तजि कै कौस्तुभ सो मनि गन क्यों गुंजा-हार धरायो ॥
 क्रीट-मुकुट सिर छोड़ पखौआ मोरन को क्यों धार्यो ।
 फेंट कसी टेंटिन पे मेवन को क्यों स्वाद बिसार्यो ॥
 ऐसी उलटी रीझ देखि के, उपजत है जिय आस ।
 जग-निदित हरिचंदहु को अपनावहिगे करि दास ॥

रे मन, करु नित-नित यह ध्यान ।

सुंदर रूप गौर स्यामल छबि, जो नहि होत बखान ॥
 मुकुट सीस चन्द्रिका बनी, कनफूल सुकुंडल कान ।
 कटि काछिनि, सारी पग नूपुरु बिछिया अनवट पान ॥
 कर कंचन, चूरी दाँउ भुज पै, बाजू संभा देत ।
 केसर खौर, बिन्दु सेंदुर कौ, देखत मन हरि लेत ॥
 मुख पै अलक, पीठ पै बेनी, नागिनि-सी लहरात ।
 चटकीले पट निपट मनोहर, नील पीत फहरात ॥
 मधुर-मधुर अधरन बंसी धुनि, तैसीही सुसकानि ।
 दाँउ नैनन रसभीनी चितवनि; परम दया की खानि ॥
 ऐसो अद्भुत भेष बिलोकत, चकित होत सब आय ।
 'हरीचंद' बिनु जुगुल कृपा यह, लख्यौ कोन पै जाय ॥

अहो हरि, बस अब बहुत भई ।

अपनी दिसि बिलोकि करुनानिधि, कीजै नाहि नई ॥
जो हमरे दोषन को देखौ, तौ न निबाह हमारो ॥
करिकै मुरत अजामिल, गज की हमरं करम बिसारौ ॥
अब नहि सही जाति काऊ बिधि, धीर सकत नहि धारौ ॥
'हरीचंद' को बेगि धाड़कै, भुज भरि लेहु उबारी ॥

पियारे, याकौ नाँव नियाव ?

जो तोहि भजे ताहि नहि भजनो कीनो मनो बनाव ॥
बिनु कछु किये जानि अपुनो जन, दूनो दुख तेहि दनो ॥
भली नई यह रीति चलाई, उलटौ अवगुन लेनो ॥
'हरीचंद' यह भलो निबरेयो, हँ कै अतरजामी ॥
चोरिन छाँड़ि-छाँड़िकै, डारौ उलटौ धन कौ स्वामी ॥

अहो ! इन भूठन मोहि भुलायो ।

कबहुँ जगत के, कबहुँ स्वर्ग के, स्वादिनि मोहि ललचायो ॥
भजे होइ किन लांह हेम की, पुन्य-पाप दोउ बेरी ॥
लोभमून परमारथ स्वारथ, नामहि मैं कछु फेरो ॥
इनमें भूलि कृपानिधि तुम्हरे, चरन-कमल बिमराये ॥
तुम बिनु भटकन फिर्यौ जगत में नाहक जनम गँवाये ॥
हाय-हाय करि मोह छाँड़ि कै, कबहुँ न धीरज धार्यौ ॥
या जग जगती जोर अर्गिन में, आय सु-दिन सब जार्यौ ॥
करहु कृपा करुनानिधि केसव, जग कौ जाल छुड़ाई ॥
दीन हीन 'हरिचंद' दास कौ बेगि लेहु अपनाई ॥

सम्हारहु अपने को गिरधारी ।

मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी ॥
हिय हलकत बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी ॥
चक्रादिकन सान दै राखो कंकन फँसन निवारी ॥

नूपुर लेहु चढ़ाय किक्की खींचहु करहु तयारी ।
 पियरो पट परिकर कटि किसि कै बांधौ हो बनवारी ॥
 हम नाही उनमें जिनको तुम सहजहि दीनों तारी ।
 बानो जुगओ नीके अब की हरीचन्द की बारी ॥

मरम की पीर न जानै कोय ।
 कासों कहौ, कौन पुनि मानै, पैठि रहीं घर रोय ॥
 काऊ जरनि न जाननिवारो, बेमहरम सब लोय ।
 अपुनी कहत, सुनत नहि मंत्री, केहि समझाउँ सोय ॥
 लोक-नाज, कुल की मरजादा, बैठि रही सब खोय ।
 'हरीचद' ऐसेहि निबहैगी, हाना हाय सो होय ॥

याही भारत मध्य में, रहे कृष्ण मुनि व्यास ।
 जिनके भारत गान सों, भारत-बदन प्रकास ॥
 याही भारत में रहे, कपिल सूत दुरवास ।
 याही भारत में भये, शाक्य-सिंह सन्यास ॥
 याही भारत में गये, मनु भृगु आदिक होय ।
 तब तिनसों जग में रह्यो, घृना करत नहि कोय ॥
 जासु काव्य सों जगत-मधि, अबलौ ऊँचो सीस ।
 जासु राज बल धर्म की, तृषा करहि अवनीस ॥
 सोई व्यास अरु राम के, बंस सबै संतान ।
 ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन रूप समान ॥
 कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तन, कोटि-कोटि अति सूर ।
 कोटि-कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर ॥
 सोइ भारत की आज यह, भई दुर्दसा हाय ।
 कदा करें कित जायँ नहि, सूक्त कबू उपाय ॥

जगन्नाथदास रत्नाकर

रत्नाकरजी की प्रतिष्ठा आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ ब्रजभाषा के कवि के रूप में है। उनकी भाषा-शैली महाकवि पद्माकर जैसी है। स्थान-स्थान पर कवि ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखाया है। भाषा में निर्बन्ध स्वाभाविक प्रवाह है। इनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा इतनी प्राञ्जल है कि देवते ही बनती है। उसमें व्याकरण की अव्यवस्था का सर्वथा अभाव है। क्रियाओं की दर्शनिक शुद्धता उसमें मिलती है। कवि ने अपनी भाषा में स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों और साहित्यिक अलंकारों का प्रयोग समान कुशलता से किया है।

हरिश्चन्द्र, गंगावतरण और उद्धव शतक कवि के तीन प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं। गंगावतरण में कवि ने शृङ्गार, वीर, हास्य, भयानक आदि अनेक रसों का परिपाक किया है। आकाश से उतरती हुई गंगा को संभालने के लिए उद्धव शिवजी का इन्होंने बहुत आज्ञाय चित्रण किया है। गंगावतरण में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के मतानुसार मानस की छाया मिलती है। गंगावतरण की कथा भी रामचरित की भाँति पौराणिक होन के कारण अलौकिक चित्रों से युक्त है। दोनों की कथा में इतना आकर्षण है कि घटना-अनुक्रम और सूक्ष्म कला का प्रदर्शन उतना आवश्यक नहीं रह जाता है। बाजपेयी जी के शब्दों में—रत्नाकर जी ने गंगा के अवतार की जो विशद, आजपूर्ण और रहस्यमयी वर्णना की है। वह पौराणिक काव्य के अनुरूप ही हुई है। यदि आरम्भ के सर्गों का संक्षिप्त करके उत्तर-सर्गों को कुछ विस्तृत कर दिया जाता तो यह प्रबन्ध काव्य और भी अधिक उकृष्ट श्रेणी का बन जाता।

उद्धव शतक भाव-प्रधान काव्य है। इसका विषय सूरदास, नन्द-दास आदि अनेक कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है।

पर रत्नाकर जी ने तरह तरह की नवीन और रमणीय उद्भावनाओं द्वारा इस पुराने विषय में भी नवीनता प्रतिपादित की है। उद्धव शतक में केवल गोपियों ही श्रीकृष्ण के प्रेम में पीड़ित नहीं दिखाई देतीं वरन् श्री कृष्ण भी उनके प्रेम में उतने ही कातर और वेदना-विह्वल नजर आते हैं। कवि ने अलंकार विधान की सूक्ष्मता भी दिखाई है, पर यह अलंकार-कौशल और चमत्कार कहीं भी रसोद्रेक और संचार में बाधक नहीं हो पाया। भावना भक्ति-युग की है पर उसके साथ की अलंकार-व्यवस्था रीति-काल की है और अभिव्यक्ति-शैली और छन्द-विधान पर तो कवि का असाधारण अधिकार है ही। भावों की अनुरूपता के अनुसार प्रयुक्त भाषा में शब्द-चित्र आप से आप बनते हैं। भाषा का नाद सौन्दर्य भी कानों में बराबर गूँजता रहता है और वातावरण की सृष्टि भी करता है। एक विद्वान् के शब्दों में ब्रजभाषा की व्यङ्गात्मक शक्ति को विकसित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का कवि की भाषा में बिलकुल अभाव है। पर कहीं-कहीं अपभ्रंश के तथा पूर्वी शब्द उसमें आ गये हैं।

उद्धव शतक में एक ओर सूरदास की गोपियों की प्रेम की पीर और कसक है तो दूसरी ओर नन्ददास की गोपियों की तार्किकता। स्रगुण और निर्गुण को लेकर गोपियों ऐसे-ऐसे तर्क करती हैं—ऐसी-ऐसी दार्शनिक सूक्तियाँ बोल जाती हैं जाँ मस्तिष्क को चमत्कृत करती हैं यद्यपि वे सभी रस में डूबी-सी रहती हैं। कवि के विरह वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और उनमें करुण रस की मार्मिक व्यंजना हुई है। विरह की व्यंजना यों ही मानव-मन को अधिक अभिभूत करती एवं मोहती है। फिर यदि उसके पीछे लोक-कथा की एक पृष्ठभूमि हुई तो क्या कहना है। और उसमें तार्किकता की आधुनिकता का समावेश कर गोपियों और उद्धव के संवादाँ में वाणी की विदग्धता प्रदर्शित कर कवि ने अभिनव रस-सृष्टि की है। उद्धव के जोग-तंत्र का गोपियों की भक्ति-भावना से पराजित

कराने की योजना नवीन नहीं है। रत्नाकर जो की उक्तियों अनेक अशों में सूरदास, नंददास आदि की उक्तियों से मिलती-जुलती अवश्य हैं पर उनमें एक अपनी निजता है। आधुनिकता उन उक्तियों के केवल कहने के ढंग में ही है। नवीन युग और साहित्य की भाव-धारा तरंगित होने वाले व्यक्तिवाद या अनीश्वरवाद का कोई संकेत उसमें देखना कवि की सृष्टि की मूल प्रकृति से अपरिचय ही कहा जायगा।

रत्नाकर जी ने विविध विषयों पर मुक्त छंद भी कम नहीं लिखे हैं। इन स्फुट छंदों में भी उनका जादू भरा करामाती रचना-कौशल मिलता है। उन्होंने फुटकर छंदों में ऋतु सम्बन्धी अटक लिखे हैं, जो ब्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन की तुलना में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। उनकी मँजी कलम के निम्नरे कवित्त अपनी संगीतमयता और कला के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में एक ऐतिहासिक महाकवि—कलेसिकल कविता के अंतिम प्रतिनिधि—के रूप में वे सदैव स्मरण किये जायेंगे।

द्रौपदी अष्टक

भीषम कौ प्रेरौं कर्नहूँ कौ मुख हंगै हाय,
 सकल सभा की आर दीन दग फेरौं मैं ।
 कहै रतनाकर त्यों अंधहूँ के आगै रोइ,
 खोई दीठि चाहति अनीठहि निवेरौं मैं ॥
 हारी जदुनाथ जदुनाथ हों पुकागी नाथ,
 हाथ दाबि कढ़न करेजहि दरेरौं मैं ।
 देखो रजपूनी की सकल करतूती अब,
 एक बार बहुरि गुपान कहि टेरें मैं ॥ १ ॥

दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यों ही,
 तत्र बिन आई मनजंत्र बिजुरीनि पै ।
 कहै रतनाकर त्यों कान्ह की कृपा की कानि,
 आनि लमी चातुरी-बिहीन अतुरीनि पै ॥
 अंग पर्यौ थहरि लहरि दग रंग पर्यौ,
 तंग पर्यौ बसन सुरङ्ग पैसुरीनि पै ।
 पंचजन्य चूपन हुमसि होठ बक्र लाग्यौ,
 चक्र लाग्यौ घृमन उमगि अँगुरीनि पै ॥ २ ॥

औचक चकित सब जादव-सभा कै नाथ,
 बानि उठे कौरव-गुमान अब छूटैगौ ।
 कहै रतनाकर बहुरि पग रांपि कहाँ,
 पांडव विचारनि कौ दुख अब छूटैगौ ॥
 अंबर कौ काल कौ हली कौ हरि हर हूँ कौ,
 सतत अनंतता विधान जब छूटैगौ ।
 छूटैगौ हमारौ नाम भक्त-भीर हारी जब,
 द्रपद-सुता कां चीर-छीर तब छूटैगौ ॥ ३ ॥

भरी हृग नीर उयों अधीर द्रौपदी हूँ दीन,
 कीन्यौ ध्यान कान्ह की महान प्रभुता कौ है ।
 कहै रतनाकर त्यों पट में समान्यौ आइ,
 अकल असीम भाइ दीनबंधुता कौ है ॥
 भौचक समाज सब औचक पुकारि उठ्यौ,
 गारि उठ्यौ गहब गुमान गुरुता कौ है ।
 चौदहै अनन्त जग जानत हुते पै यह,
 पन्ध्रहौं अनंत चीर द्रपद-सुता कौ है ॥ ४ ॥
 बोलि उठे चकित सुगमुर जहाँ ही तहाँ,
 हाहा यह चीर है कै धीर बसुधा कौ है ।
 कहै रतनाकर कै अंबर दिगंबर कौ,
 कैधौ परपंच कौ पसार बिधिना कौ है ॥
 कैधौ सेसनाग की असेस कंचुली है यह,
 कैधौ दंग गंग की अभग महिमा कौ है ।
 कैधौ द्रौपदी की करुना कौ बरुनालय है,
 पारावार कैधौ यह कान्ह की कृपा कौ है ॥ ५ ॥
 धरम-सपूत धरमध्वज रहे हैं बनि,
 पारथ सकल पुरुषारथ बिसारे हैं ।
 कहै रतनाकर असीम बल भीम हारे,
 सूके सहदेव भये नकुल नकारे हैं ॥
 भीषम औ द्रौनहूँ निहारि मौन धारि रहे,
 माप नाहि ताकौ ये तो बिबस बिचारे हैं ।
 सालत यहै कै हाथ हालत न रावरो हूँ,
 मानौ आप नाहि दुख देखत हमारे हैं ॥ ६ ॥
 अंबर लौं अंबर अनंत द्रौपदी कौ देखि,
 सकल सभा की प्रतिभा यों भई दंग है ।

कोऊ कहै अंध-भूष मोह-अंध नासन कौ,
 चारु चन्द्रिका की चली चादर अभंग है ॥
 कोऊ कहै कुरु-कुल-रूप-पाप-खंडन कौ,
 उमड़ति अखिल अखंड-धार गंग है ।
 मेरै जान दीन-दुख-द्वंद हरिवै कौ यह,
 करुना-अपार-रतनाकर-तरंग है ॥ ७ ॥
 कैधौ पाण्डु-पूतनि कौ कछुक पखंड यामै,
 कोऊ अभिहार कै सभा कौ ज्ञान लूट्यो है ।
 कैधौ कछु वाही कलछल रतनाकर कौ,
 नटखट नाटक इहाँ हूँ आनि जूट्यो है ॥
 कहत दुसासन उसास न सँभार्यौ जात,
 साहस हमारौ जात सब विधि लूट्यो है ।
 लागि गये अंबर लौ अखिल अटंबर पै,
 द्रपद-सुता कौ अजौ अंबर न खूट्यो है ॥ ८ ॥

गजेन्द्र-मोक्ष

(१)

रमत रमा के संग आनंद-उमंग भरे,
 अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै ।
 कहै “रतनाकर” बदनदुति औरै भई,
 बूढ़े छई छलकि दगनि नेह नाधे पै ॥
 धाए उठि, बार न उबारन मैं लाई नैकु,
 चंचला हू चकित रही हूँ बेग साधे पै ।
 आवत बितंड की पुकार मग आधै मिली,
 लौटत मिल्यौ त्यों पच्छिराज मग आधे पै ॥

(२)

संगवारे महत मतंगनि के संग सबै,
 निज-निज प्रान लै पराने पुसकर तैं ।
 कहै “रतनाकर” बिचारों, बल हार्यो तब
 टेरि हरि पार्थो कल कंज गहि सर तैं ।
 पहुँचन पायो पुनि बारि लौं न जौलौं वह,
 तौलौं लियौ लपकि उबारि हरबर तैं ।
 एक तैं ललायौ, चक्र एक तैं चलायौ,
 गह्यो एक तैं भुसुंड, पुंडगीक एक कर तैं ॥

(३)

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
 बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ ।
 कहै “रतनाकर” निहारि करुना की कोर,
 बचन उचारि, जो हरैया दुख साज कौ ।
 अंगु पूरि दगनि बिलब आपनोई लेखि,
 देखि देखि दीन्ह छत दंतनि दराज कौ ।
 पीतपट लै लैके अँगौछत सरीर कर,
 कंजनि सौं पोंछत भुसुंड गजराज कौ ॥

गंगा-महिमा

जदपि हमारे पापपुञ्ज अतिघाती तऊ,
 जनम जनम के सँघाती निरधारै तू ।
 कहै “रतनाकर” ममात यह मात गंग,
 तातैं तिन्हें नासन के ढंग ना बिचारै तू ।
 काक करै कोकिल बलाक कलहंस करै,
 आक ढाक जैसे सुरतरु कै सँवारै तू ॥

त्योंहीं पलटाइ काय तिनकों लगाई छाप,
 पुन्यनि के कलित कलाप करि डारै तू ॥ १ ॥
 न्हाइ गंगधार पाइ आनंद अपार जब,
 करत बिचार महा महिमा बखानी कौ ।
 कहै “रतनाकर” उठति अवसेरि यहै,
 फेरि फेरि पैयै क्यों जनमि इहि पानी कौ ।
 पञ्च की कहा है करै पातक प्रपञ्च सबै,
 रञ्चहूँ डरै न जमजातना कहानी कौ ।
 सरसरि पंथ आर पारन हीं तौहूँ पाय,
 आवति चलीयै हाय मुक्ति अगवानी कौ ॥ २ ॥

उद्धव शतक

(१)

आये भुज-बंध दिये ऊधव-सखा कै कंध,
 डग-मग पाय मग धरत धराये हैं ।
 कहै ‘रतनाकर’ न बूझै कछू बोलत औ,
 खोलत न नैन हूँ अचैन चित छाये हैं ॥
 पाइ बहे कंज मैं सुगंध राधिका कौ मंजु,
 ध्याये कदली-बन मतंग लौ मताये हैं ।
 कान्ह गये जमुना नहान पै नये सिर सौं,
 नीकै तहाँ नेह की नदी मैं न्हाइ आये हैं ॥

(२)

नन्द औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
 लाड़-भरे लालन की लालच लगावती ।
 कहै ‘रतनाकर’ सुधाकर - प्रभा सौं मदी,
 मंजु मृगनैननि के गुन गन गावती ॥
 जमुना-कछारनि की रङ्ग-रस - रारनि की,
 बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती ।

सुधि ब्रज - बासिन दिवैया सुग्व-रासिन की,
ऊधौ, नित हमकों बुलावन कौ आवती ॥

(३)

रूप-रस पीवत अघात ना हुते जो तब,
सोई अब आँसु है उबरि गिरिबों करै ।
कहै 'रतनाकर' जुड़ात हुत देखै जिन्हें,
याद किये तिनकों आँवों सौं घिरिबों करै ॥
दिननि के फेर सौं भयो है हेर-फेर ऐसी,
जाकों हरि-फेरि हेरिबौई हिरिबौ करै ।
फिरते हुते जू जिन कुंजनि में आठौं जाम,
नैननि में अब साँई कुंज फिरिबौ करै ॥

(४)

लै कै उपदेस, औ संदेस-पन ऊधौ चले,
सुजस-कमाइबै उछाह-उदगार मैं ।
कहै 'रतनाकर' निहार कान्ह कातर पै,
आतुर भये यौ रहाँ मन न सँभार मैं ॥
ग्यान-गठरी की गाँठि छरकि न जान्यौ कब,
हरै हरै पूँजी सब सरकि कछार मैं ।
हार में तमाननि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुमानी है करीरनि के भार मैं ॥

(५)

भेजे मन-भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गावनि में पावन जबै लगी ।
कहै 'रतनाकर' गुवानिनि का भौरि-भौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगी ॥
उमकि-उमकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोड़नि छबै लगी ।

हमकों लिख्यौ है कहा-हमकों लिख्यौ है कहा,
हमकों लिख्यौ है कहा कहन सबै लगी ॥

(६)

दीन दसा देखि ब्रज-वाल्मी की ऊधव कौ,
गरिगौ गुमान ग्यान गौरव गुठाने से ।
कहै 'रतनाकर' न आये मुख वैन, नैन,
नीर भरि ल्याये भये सकुचि सिहाने से ॥
सूखे-से खम-से सकबके-से सके-से थके,
भूले-से भ्रमे-से भभरे-से भकुवाने-से ।
हौले-से हले-से हूल-हूले-से हिये मैं हाय,
हारे-से हरे-से रहे हंरत हिराने-से ॥

(७)

कान्ह-दूत कैधौ ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रजबारी की ।
कहै 'रतनाकर' पै प्रीति-रीति जानब ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ॥
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहैं हमैं भावति न भावना अन्यारी की ।
जैहैं बनि-बिगारि न बारिधिता बारिधि की,
बूढ़ता बिलैहैं बूढ़ बिबस बिचारी की ॥

(८)

चिता-मनि मंजुल पँवारि धूरि-धारनि मैं,
कौंच - मन - मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ ।
कहै 'रतनाकर' बियोग आगि सारन कौ,
ऊधौ, हाय हमकों बयारि भखिबौ कहौ ॥
रूप रसहीन जाहि निपट निरूपि चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहौ ।

एते बड़े बिस्व माँहि हैरैं हैं न पैयै जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ ॥

(९)

आये हौ सिखावन कौ जोग मथुरा तैं तौ पै,
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना ।
कहै 'रतनाकर' दयाकरि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौ, तौ पै अधिक बढ़ावौ ना ॥
टूक टूक है है मन-मुकुर हमारौ हाय !
चूकि हैं कठोर बैन पाहन चलावौ ना ।
एक मन मोहन तौ बसिकै उजार्यौ मोहि,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना ॥

(१०)

चुप रहौ ऊधौ सृधौ पथ मथुरा कौ गहौ,
कहौ ना कशानी जो बिबिध कहि आये हौ ।
कहै 'रतनाकर' न वृम्भिहैं बुझायें हम,
करत उपाय झूठा भारी भरमाये हौ ॥
सरल सुभाव मृदु जानि परौ ऊपर तैं,
पर उर घाय करि लौन सौ लगाये हौ ।
रावरी सुधाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि,
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याये हौ ॥

(११)

प्रेम-मद छत्के पग परत कहाँ के कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुधाई है ।
कहै 'रतनाकर' यौ आवत चक्रात ऊधौ,
मानौ सुधियात कोऊ भावना मुलाई है ॥
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बँहोलिनि जो आँस-अधिकारी है ।

एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका - पठाई है ॥

(१२)

रावरे षठाये जोग देन कौ सिधारे हुने,
ग्यान-गुन-गौरव के अति उदगार में ।
कहै 'रतनाकर' पै चातुरी हमारी सबै,
कित धौ हिरानी दसा दारुन अपार में ॥
उड़ि उधिरानी किधौ ऊरध उमासनि में,
बलि धौ बिलानी कहूँ आँसुनि की धार में ।
चूर हो गई धौ भूरि दुख के दरेरनि में,
छार हो गई धौ बिरहानल की झार में ॥

(१३)

चाहत निकारन तिन्है जो उर-अंतर तैं,
ताकौ जोग नाहि जांग-मन्तर तिहारे में ।
कहै 'रतनाकर' बिलग करिवै में होति,
नोति - बिपरीत महा कहति पुकारे में ॥
तातैं तिन्है ल्याइ लाइ हिय तैं हमारे बेगि,
सोचियै उपाय फेरि चित्त चेतवारे में ।
ज्यौ-ज्यौ बसे जात दूरि-दूरि पिय प्रान-मूरि,
त्यौ-त्यौ धँसे जात मन-मुकुर हमारे में ॥

(१४)

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तैं,
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना ।
कहै 'रतनाकर' त्रिलोक-शोक-मंडल में,
बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना ॥
हर कौ समेत हर-गिरि के गुमान गरि,
पल में पतालपर पैठन पठावे ना ।

फैले बरसाने में न रावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे आधी कान सुनि पाव ना ॥

(१५)

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कै तीर,
गौन रौन-रेती सौ कदापि करते नहीं ।
कहै 'रतनाकर' विहाइ प्रेम-गाथा गूढ़,
स्नान रसना में रस और भरते नहीं ॥
गोपी ग्वानबालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हूँ नैकु डरते नहीं ।
होतौ चित चाव जो न रावरे चितावन कौं,
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं ॥

गंगावतरण

(१)

भूप भगीरथ तब अन्हाइ अद्भुत मुग्य लीन्यौ ।
संध्या-बंदन साधि देव - पितरनि जल - दीन्यौ ॥
मन प्रमोद तन पुलक प्रेम - जल पलकनि छाप ।
गद्गद स्वर सौ करी गग - अस्तुति उमगाए ॥

(२)

जय तांडव-द्रव - भूत- ब्रह्म - मूर्ति अति पावनि ।
प्रबल - प्रभाव-अमोघ सकल - अघ - ओघ - नसावनि ॥
चतुरानन - हरि - ईस-परम - पद - विसद - वितरनी ।
दस - पातक - अमुरारि - रूप - दस इक अवतरनी ॥

(३)

जय विरंचि - कृत - बंक - अंक - निस्संक - पखारिनि ।
सुख - संपति - संतान-मान - बिस्तारिनि तारिनि ॥
जय हरि की सम - हरनि बौटि तारन कृति भारी ।
जिन्ह मणिमाला-बल-विपल बहरि बह रचि अमरारी ॥

(४)

जय गिरीस - सुभ - सीस - सरस - सोभा - संचारिनि ।
 हृत - त्रिलोक - त्रय - ताप-जनित - संताप निवारिनि ॥
 जय अमृतासन - वृन्द-तोप - निज-बाढ़ - बढ़ावनि ।
 स्वल्प - सुधा - कृत - देव - दनुज - दल-द्रोह-बहावनि ॥

(५)

जय बिप्रनि हित परम ब्रह्म-विद्या की स्नेनी ।
 तोष मोष बिज्ञान मान इच्छित सब देनी ॥
 जय क्षत्रिय - कुल - दुरित - दलन-संगर की संगिनि ।
 चार - वर्ग - जय-हेत - चम् चमकति चतुरंगिनि ॥

(६)

जय बनि कनि के काज धनिक गाहक मति भोली ।
 खोट - पोट लै दंति खरी मुक्तिनि की भोली ॥
 जस सूदन हित अति उदार कामल चित स्वामिनि ।
 सेवत सद्यः देति सौख्य - संपति सुरधामिनि ॥

(७)

जय जोगिनि की परम - तत्त्व सुख-निधि भोगिनि की ।
 सांगिनि की दुख-दरनि हरनि आरति रोगिनि की ॥
 जय जग - जननि अनंत छोह संतति पर छावनि ।
 मृत कहूँ लै निज गोद मोद सुख दै दुलरावनि ॥

(८)

जय किल केहरि - माल कर्म - बन-गहन-सुचारिनि ।
 पातक - कुंजर - पुंज गंजि बर मुक्ति पसारिनि ॥
 दुख - दारिद - दुरभाग - दुरित - गिरि-गुहा-बिदारिनि ।
 चिंता - भ्रम - उद्वेग - बेग - मृग - निखिल-निवारिनि ॥

(९)

जय कलषद्रुम - कुसुम - मंजु - मकरंद - तरंगिनि ।
 सुर-नर-मुनि मन - मधुप - पुंज - सरबस-सुख-संगिनि ॥

जय वृंदारक - वृंद - बंध - कल काम दुहा की ।
धवल धार सुख - सार जीवनाधार धरा की ॥

(१०)

जय आनंद - तरंग - गंग गिरि - नायक - नंदिनि ।
जय जाह्नवी पुनीत ईति - भव - भीति - निकंदिनि ॥
जय दिनेश - कुल - सुभ्र - सुजस - त्रिभुवन-संचारिनि ।
भागीरथी कहाइ अमर - कल - कीरति - कारिनि ॥

(११)

जय सुचि - सुकृत - पयोधि - सुधा की धार सुधारी ।
चारु - चार - फल - देन - पुन्य - तरु - सींचन हारी ॥
जाकैं अर्घ अघात सुधा - भोगी बिबुधाकर ।
जिहि नवजीवन - पूरि भूरि उमगत रतनाकर ॥

(१२)

नृप - अस्तुति सुन उठी गंग - उर कृपा - फुरहरी ।
जल - तल पर लहरान लगी आनंद की लहरी ॥
यह धुनि मंजुल मधुर धार - कलकल तैं आई ।
धन्य भागीरथ भूप धन्य तव पुन्य - कमाई ॥



अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी हिन्दी के महाकवि थे। उनमें कवि और आचार्य का मणि-कांचन संयोग दिखाई देता है। हरिऔधजी का विभिन्न काव्य-भाषाओं पर जैसा असाधारण अधिकार था वैसा इस युग में होने वाले अन्य किसी हिन्दी-कवि का नहीं। ब्रजभाषा, खड़ी बोली और मुहावरों से जगमगाती हुई, बहती हुई हिन्दुस्तानी भाषा तीनों में कवि ने लिखा है और जी खोल कर लिखा है। इनकी प्रतिभा को बहुमुखी माना जाता था और हिन्दी-संसार ने एक स्वर से इन्हें वचि-सम्राट की उपाधि दी थी। कविता लिखने की अजस्र शक्ति इनमें थी।

प्रियप्रवास कवि का महाकाव्य है, जो खड़ी बोली में सबसे पहले अनुकान्त छन्दों में लिखा गया है। रसवर्षण और भावों के अनूटपन में यह आज भी अपना सानी नहीं रखता। इसमें संस्कृत-निष्ठ कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग हुआ है। संस्कृत के मधुरतम वृत्तों को चुनकर कवि ने कुशलतापूर्वक निबाहा है। करुणा का ऐसा सजीव वातावरण कवि ने इस काव्य में प्रस्तुत किया है जो देखते ही बनता है। भाषा में ऐसी सुकुमारता और मार्दव है जो उच्चकोटि के संस्कृत-काव्यों में पायी जाती है। असल में इस प्रकार की संस्कृताभास भाषा का प्रवर्तन आचार्य द्विवेदी जी ने हिन्दी में किया था। उसकी चरम सीमा कवि ने इसमें दिखायी है। वर्ण-वृत्तों में रचना करने का कठिन काम कवि ने सफलतापूर्वक किया है।

चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली पर कवि का पूरा अधिकार है। कवि ने काव्य के उपयुक्त संस्कृत-शब्दों का चुनाव भी चतुरता के साथ किया है। प्रियप्रवास घटनामूलक प्रबन्ध-काव्य नहीं, एक वर्णन-प्रधान प्रबन्ध-काव्य है। मनोदशाओं का बहुत ही स्वाभाविक

और सच्चा चित्र इसमें खींचा गया है। हरिऔधजी में मनुष्य के जीवन की मार्मिक दशाओं की अनुभूति बहुत गहरी है। इसीलिए कवि के वर्णन बड़े हृदयस्पर्शी हैं। कृष्ण गोकुल से मथुरा चले जाते हैं। उनके वियोग की व्यापक पीड़ा का विस्तार और मार्मिकता के साथ वर्णन किया गया है। नंद, यशोदा, ग्वाल, गोपियों यहाँ तक कि विरह पीड़ित पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तक का विरह-वर्णन कवि ने सहज ढंग से किया है। माता-पिता के संतान-वियुक्त हृदय का जो वर्णन कवि ने किया है, वह सार्वभौम और सर्वकालीन है। माता-पिता के लिए पुत्र के वियोग की रातें कितनी कष्टकर और यन्त्रणादायक होती हैं! संतान के अभाव से अवीर संतप्त मातृ-हृदय का जो वर्णन कवि ने किया है, वह इतना सच्चा और कारुणिक है कि कहते नहीं बनता। ब्रज की दशा का वर्णन करने में अपूर्व भावुकता और करुणा का परिचय कवि ने दिया है।

प्रियप्रवास के प्रकाशन के साथ ही हरिऔध जी हिन्दी के प्रमुखतम कवि माने जाने लगे थे। प्रबन्ध-काव्यों में यह काव्य आज भी बेजोड़ है। हरिऔध जी पहले ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे। खड़ी बोली में आपने बाद में लिखना शुरू किया था। रसकलश आपका द्वितीय श्रेष्ठ काव्य है, जो ब्रजभाषा में लिखा गया है। यह रस-सम्बन्धी अनूठा काव्य-ग्रन्थ है। ब्रजभाषा के पुराने कवियों की प्रणाली पर चल कर इसमें नये ढंग से रसों का विवेचन किया गया है। यह एक प्रकार से लक्षण-ग्रन्थ है और ब्रजभाषा के काव्याचार्यों और काव्य-शास्त्रियों ने भी इस ग्रन्थ का जोहा माना है। कवि आचार्य के रूप में सामने आया है पर जगह-जगह पर उनका कवित्व फूट पड़ा है। ब्रजभाषा के आधुनिक काव्य-ग्रन्थों में इसका ऊँचा स्थान है।

वैदेही वनवास कवि का करुण रस प्रधान काव्य है। हरिऔध जी मूलतः करुण रस के कवि हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा इसी रस में सबसे अधिक खिलती है। आधुनिक युग में रचे जाने के कारण हरिऔधजी

ने वैदेही वनवास के प्रणयन में सामयिकता पर पूरा ध्यान रक्खा है। इसे बोधगम्य बुद्धि-संगत बनाने की कवि ने चेष्टा की है। इसीसे इसमें असंभव व्यापारों और घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता। यह अठारह सगों में लगभग २०० छन्दों में समाप्त हुआ है। पारिजात आपका एक अन्य महा ग्रन्थ है।

हरिऔधजी की काव्य-साधना जीवन भर अविराम गति से चलती रही है। चोखे चौपदे और चुभते चौपदे में उन्होंने मुहावरों का सौन्दर्य दिखाया है। कविता की दृष्टि से कवि की इस प्रकार की रचनाओं का भले अधिक मूल्य न हो पर भाषा के परिष्कार के इतिहास में उनका महत्त्व असंदिग्ध है। भारतीय संस्कृति की सात्विकता और निष्कपटता आपके काव्य में पग-पग पर मिलती है। करुणा और वात्सल्य के इस अमर कवि का काव्य-सृजन इतना विविधतामय और अधिकारपूर्ण है कि देखकर आश्चर्य होता है। ठेठ बोल-चाल की भाषा की ओर आप शुरू से प्रवृत्त थे और एक प्रकार से छायावाद के उपरान्त आने वाले कवियों की काव्य-भाषा के लिए आपकी भाषा ने भूमिका तैयार की। आप की मुक्तक कविताओं की संख्या सैकड़ों तक जाती है। अपनी बहुत सी कविताओं में व्यङ्ग्य और उपदेशों द्वारा कवि ने सामाजिक सुधार और उच्चतर जीवन की प्रेरणा प्रदान की है। इस प्रकार आपने विविध काव्य-क्षेत्रों में रस बरसाया और साहित्य की वृद्धि की।

ब्रजभाषा की कविता के नमूने

(१)

तेरी ही कला से कलानिधि है कलानिधान,
 है सकेलि नेरी केलि कलित पतङ्ग मैं ।
 गुरु गिरिगन हैं तिहारी गुरुता के लहे,
 पावन प्रसङ्ग है तिहारो पूत सङ्ग मैं ॥
 “हरिऔध” तेरी हरियाली से हरे हैं तरु,
 तू ही हरि बिहर रहा है हर अङ्ग मैं ।
 तेरो रङ्ग ही है रङ्ग रङ्ग के प्रसूनन में,
 तू ही है तरङ्गित तरङ्गिनी-तरङ्ग मैं ॥

(२)

उठो उठो बीरो चीरो अरि के करेजन को,
 पीरो मुख परे बनी बानहू बिगिरिहै ।
 छटक छटक छाती छगुनी करैयन को,
 कौन आज उछरि उछरि कै पछरिहै ॥
 “हरिऔध” कहै बीर बाँकुरे न बेर करे,
 हाँक से तिहारी बीर हू ना बीर धरिहै ।
 पारावार-धार में उड़ैगी छार आँच लगे,
 ठोकर की मार से पहार गिरि परिहै ॥

(३)

मिलि मिलि मोदवारी मुकुलित मल्लिका सों,
 कुञ्ज-कुञ्ज क्यारिन कलोल करि फूले हौ ।
 पान कै प्रकाम रस ग्राम मञ्जरीन हू के,
 अभिराम उरके अराम उनमूले हौ ॥

“हरिऔध” ठौर ठौर भौरि भुक भूमि भूमि,
 चूमि चूमि कञ्ज की कनीन अनुकूले हौ ।
 तजि मइमही मञ्ज मालती चमेलिन को,
 कौन भ्रम वेनिन भ्रमर आज भूले हौ ॥

दुखिया के आँसू

बावले से घूमते जी में मिले,
 आँख में बेचैन बनते ही रहे ।
 गिर कपोलों पर पड़े बेहाल से,
 बात दुखिया आँसुओं की क्या कहें ॥१॥
 हैं व्यथायें सैकड़ों इनमें भरों,
 ये बड़े गम्भीर दुख में हैं सने ।
 पर इन्हें अवलोक करके दो बता,
 हैं कलेजा थामते कितने जने ॥२॥
 बालकों के आँसुओं को देखकर,
 है उमड़ आता पिता-उर प्रेममय ।
 कौन-सी इन आँसुओं में है कसर,
 जगजनक भी जो नहीं होता सदय ॥३॥
 पोंछ देने के लिये धीरे इन्हें,
 है नहीं उठता दयामय कर कहीं ।
 इन विचारों पर किसी हमददे की,
 प्यार वाली आँख भी पड़ती नहीं ॥४॥
 क्यों उरों से ये दृगों में आ कढ़े,
 था भला, जो नाश हो जाते वहीं ।
 जो किसी का भी इन्हें अवलोककर,
 मन न रोया जी पसीजा तक नहीं ॥५॥

भाग फूटा चेबसी लिपटी रही,
 बहु दुखों से ही सदा नाता रहा ।
 फिर अजब क्या, इस अभागे जीव के,
 आँसुओं का जो असर जाता रहा ॥६॥
 बह पड़ी जो धार दुखिया आँख से,
 क्यों न पानी ही उसे कहते रहें ।
 है नहीं जिसने जगह जी में किया,
 हम भला कैसे उसे आँसू कहें ॥७॥
 है कलेजे को घुला देता कोई,
 मेल चितवन पर कोई लाता नहीं ।
 कौन दुखिया आँसुओं पर हो सद्य,
 पूछ ऐसों की नहीं होती कहीं ॥८॥

यशोदा-उद्धव-संवाद

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं ?
 कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?
 ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?
 हो जाती हैं हृदय तल में तो नहीं वेदनाएँ ?
 मीठे मेवे मृदुल नबनी और पक्कान नाना ।
 धीरे हाथों सहित सुत को कौन होगी खिलाती ?
 प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था ।
 हा ! पीता है न अब उसको प्राण-प्यारा हमारा ।
 संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा ।
 लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी !
 जैसे लेके सुगन्धि सुत को अङ्गु में मैं खिलाती ।
 हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन बामा सकेगी ॥

मैं थी सारा दिवस, मुख-को देखते ही बिताती ।
 हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी ।
 हा ! वैसे ही अब बदन को देखती कौन होगी !
 ऊधो, मातृ सहस्र समता अन्य की है न होती ॥
 खाने, पीने, शयन करने आदि की एक बेला ।
 जो जाती थी कुछ टल कभी, देख दुख होता बड़ा था ।
 ऊधो, ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी ।
 माता की-सी अवनितन में है अमाता न होती ॥
 जो पाती हूँ कँअर मुख के जोग में भोग प्यारा,
 तो होती हैं हृदयतल में वेदनाएँ बड़ी ही ।
 जो कोई भी सुफल सुत के हेतु मैं देखती हूँ,
 हो जाती हूँ व्यथित अति ही दग्ध होती महा हूँ ॥
 जो लाती थी विविध रङ्ग के मुग्धकारी खिलौने,
 वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी-सी ।
 हा ! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना,
 तो उन्मत्ता सहस्र मग की ओर मैं देखती हूँ !
 आते लीला निपुण नट हैं आज भी बाँध आशा ।
 कोई यों भी न अब उनके खेल को देखता है ॥
 प्यारे होते मुदित जितने कौतुकों से सदा थे,
 वे आँखों में विषम द्रव हैं दर्शकों के लगाते !
 प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था ।
 खाते खाते पुलक पड़ता, नाचता कूदता था ॥
 ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आती ।
 हो जाता है मधुरतर और स्निग्ध भी दग्धकारी !
 हा ! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी;
 सो आले में मलिन बन औ मूक होके पड़ी है !

जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की ।
 सो उन्मत्ता परम विकला उन्मत्ता है बनाती ॥
 प्यारे ऊधो ! सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
 क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का ।
 रो-रो होके विकल अपने बार जो हैं बिताते,
 हा ! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ?
 कैसे भूलीं सरस खनि सी प्रीति की गोपिकाएँ ?
 कैसे भूलीं सुहृदयपन के सेतु से गोप-नवाले ॥
 शान्ता धीरा मधुर हृदया प्रेम रूपा रसज्ञा ।
 कैसे भूलीं प्रणय-प्रतिमा राधिका मोहमग्ना ?
 कैसे वृन्दा विपिन बिसरा, क्यों लता वेलि भूलीं ?
 कैसे जी से उतर खिगरी कुञ्ज-पुञ्ज गई हैं ?
 कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले ?
 कैसे भूला विकचतरु सो कालिंदी कूलवाला ?
 सोती सांती चिहूँक कर जो श्याम को है बुलाती,
 ऊधो, मेरी यह सदन की सारिका कांत-कण्ठा !
 पात्ता पोसा प्रतिदिन जिसे श्याम ने प्यार से है,
 हा ! कैसे सो हृदयतल से दूर यों हो गई है !
 कुञ्जों-कुञ्जों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया,
 जो प्यारी थीं परम ब्रज के लाड़िले को सदा ही ।
 खिन्ना, दीना, विकल बन में आज जो घूमती हैं,
 ऊधो, कैसे हृदय-धन का हाथ वे धेनु भूलीं ?

उपवन

लोक - रंजनी उषा - सुन्दरी रंजन - रत थी ।
 नम-तल था अनुराग - रँग आभा - निर्गत थी ॥

धीरे धीरे तिरोभूत तामस होता था ।
 ज्योति - बीज प्राची - प्रदेश में दिव बोता था ॥१॥
 किरणों का आगमन देख ऊषा मुसकाई ।
 मिले साटिका - लैस-टैकी लसिता बन पाई ॥
 अरुण-अंक से छटा छलक क्षिति-नल पर छाई ।
 भृंगु गान कर उठे विटप पर बजी बधाई ॥२॥
 दिनमणि निकले, किरण ने नवल ज्योति जगाई ।
 मुक्त - मानिका विटप तृणायन्ति तक ने पाई ॥
 शीतल बहा समीर कुसुम - कुत्र खिले दिखाये ।
 तरु - पल्लव जगमगा उठे नव आभा पाये ॥३॥
 सर - सरिता का सलिल सुचारु बना लहराया ।
 बिन्दु - निवय ने रवि के कर से मोती पाया ॥
 उठ - उठ कर नाचने लगीं बहु - तरल - तरंगों ।
 दिव्य बन गईं वरुण - देव की विपुल उमंगें ॥४॥
 सारा तम टल गया अंधता भव की छूटी ।
 प्रकृति - कंठ - गत मुग्ध - करी मणिमाला टूटी ॥
 बीत गई यामिनी दिवस की फिरी दुहाई ।
 बनों दिशायें दिव्य प्रभात प्रभा दिखलाई ॥५॥
 एक रम्यतम - नगर सुधा - धवलित - धामों पर ।
 पड़कर किरणें दिखा रही थीं दृश्य - मनोहर ॥
 गगन - स्पर्शी ध्वजा - पुञ्ज के, रत्न - विमण्डित -
 कनक - दण्ड, द्युति दिखा बनाते थे बहु - हर्षित ॥६॥
 किरणें उनकी कान्त कान्ति से मिल जब लमतीं ।
 निज आभा को जब उनकी आभा पर कसतीं ॥
 दशक दृग उस समय न टाले से टल पाते ।
 वे होते थे मुग्ध, हृदय थे उझले जाते ॥७॥

दमक - दमक कर विपुल - कलस जो कला दिखाने ।
 उसे देख रवि ज्योति - दान करते न अघाते ॥
 दिवस काल में उन्हें न किरणें तज पाती थीं ।
 आये संध्या - समय विवश बन हट जाती थीं ॥८॥
 हिल हिल मंजुल - ध्वजा अलौकिकता थी पाती ।
 दर्शक - दृग को बार बार थी मुग्ध बनाती ॥
 तोरण पर से सरस - वाद्य ध्वनि जो आती थी ।
 मानों सुन वह उसे नृत्य - रत दिखलाती थी ॥९॥
 इन धामों के पार्श्व - भाग में बड़ा मनोहर ।
 एक रम्य उपवन था नन्दन - वन सा सुन्दर ॥
 उसके नीचे तरल - तरंगायित सरि - धारा ।
 प्रवह - मान ही करती थी कलकल-रव न्यारा ॥१०॥
 उसके उर में लसी कान्त - अरुणोदय - लाली ।
 किरणों से मिल दिखा रही थी कान्ति - निराली ॥
 कियत्काल उपरान्त अंक सरि का हो उज्ज्वल ।
 लगा जगमगाने नयनों में भर कौतूहल ॥११॥
 उठे बुलबुले कनक - कान्ति से कान्तिमान बन ।
 लगे दिखाने सामूहिक अति - अद्भुत - नर्तन ॥
 उठी तरंगें रवि कर का चुम्बन थीं करतीं ।
 पाकर मंद - समीर विहरतीं उमग उभरतीं ॥१२॥
 सरित - गर्भ में पड़ा बिम्ब प्रासाद - निचय का ।
 कुल - बिराजित विटप - राजि छाया अभिनय का ॥
 दृश्य बड़ा था रम्य था महा - मंजु दिखाता ।
 लहरों में लहरा लहरा था मुग्ध बनाता ॥१३॥
 उपवन के अति - उष एक मंडप में विलसी ।
 मूर्ति - युगल इन दृश्यों के देखे थी बिकसी ॥

इनमें से थे एक दिवाकर कुल के मण्डन ।
 श्याम गात आजानु - बाहु सरसीरुह - लोचन ॥१४॥
 मर्यादा के धाम शील - सौजन्य - धुरंधर ।
 दशरथ - नन्दन राम परम - रमणीय - कलेवर ॥
 थी दूसरी विदेह - नन्दिनी लोक - ललामा ।
 सृष्टि-स्वरूपा सती विपुल-मंजुल-गुण-धामा ॥१५॥
 वे बैठी पति साथ देखती थीं सरि - लीला ।
 था वदनांबुज विकच वृत्ति थी संयम - शीला ॥
 सरस मधुर वचनों के मोती कभी पिरोतीं ।
 कभी प्रभात - विभूति विलोक प्रफुल्लित होतीं ॥१६॥
 बोले रघुकुल तिलक - प्रिये प्रातः - ह्यत्र प्यारी ।
 है नितान्त - कमनीय लोक - अनुरंजनकारी ॥
 प्रकृति-मृदुल-तम-भाव-निचय से हं हो लसिता ।
 दिनमणि-कोमल-कान्ति व्याज से है सुविकसिता ॥१७॥

राम

जय जय जयति लोक ललाम ।

नवल नीरद श्याम ।

शक्ति से शिरमणि-मुकुट क शुक्ति सम नृप नीति ।
 सृजन करती है मनोरम न्याय - मुक्ता - दाम ॥१॥
 दमककर अति दिव्य द्युति से दिवसनाथ समान ।
 है भुवन-तम-काल, उन्नत भाल अति अभिराम ॥२॥
 गण्ड - मण्डल पर विलम्बित कान्त केश - कलाप ।
 है चरग - गति - मति - कुटिलता शमन का दृढ़ दाम ॥३॥

बहु कलंक - कदन धनुष - सम वंक भ्रू अवलोक ।
 सतत होता शमित है मद - मोह - दल - संग्राम ॥४॥
 कमल से अनुराग - रजित नयन करुण - कटाक्ष ।
 हैं प्रपची विश्व के विश्रान्त - जन - विश्राम ॥५॥
 किन्तु वे ही देख लेते प्रबल अत्याचार ।
 पापकारी के लिए हैं पाप का परिणाम ॥६॥
 हैं उदार प्रवृत्ति - रत, पर - दुख - श्रवण - अनुरक्त ।
 युगल कुण्डन से ललित हो युगल श्रुति छवि धाम ॥७॥
 हैं कपोल सरस गुलाब - प्रसून से उत्फुल्ल ।
 दृग-विकासक दिव्य वैभव कलित ललित निकाम ॥८॥
 उच्चता है प्रगट करती चित्त की, रह उच्च ।
 श्वास - रक्षण में निरत बन नासिका निष्काम ॥९॥
 अधर है आरक्त उनमें है भरी अनुरक्ति ।
 मधुर रस हैं बरसते रहते वचन अविराम ॥१०॥
 दन्त - पंक्ति अमूल्य मुक्तावलि सदृश है दिव्य ।
 जा चमकते हैं सदा कर चमत्कारक काम ॥११॥
 वदन है अरविन्द सुन्दर - इन्दु सी है कान्ति ।
 मृदु हँसी है बरसती रहती सुधा वसुयाम ॥१२॥
 है कपोत समान कण्ठ परन्तु है वह कम्बु ।
 वरद बनते हैं सुने जिसका सु - रव विधि वाम ॥१३॥
 है सुपुष्ट विशाल वक्षस्थल प्रशंसित पूत ।
 दिव समान शरीर में जो है अमर आराम ॥१४॥
 विपुल बल अवलम्ब हैं आजानु विलसित बाहु ।
 बहु विभव आधार हैं जिनके विशद गुणग्राम ॥१५॥

है उदात्त प्रवृत्तिमय है म्यूनता की पूर्ति ।
 भग सरसता से ग्रहण कर उदर अद्भुत नाम ॥१६॥
 है सरोरुह सा रुचिर है भक्त - जन - सर्वेश्व ।
 है पुनीत - प्रगति - नित्य पद - मूर्तिमंत - प्रणाम ॥१७॥
 लोक मोहन हैं तथा है मंजुता अवलंब ।
 कोटिशः कन्दर्प से कमनीयतम हैं राम ॥१८॥



मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्र-कवि गुप्तजी की साधना का इतिहास एक प्रकार से खड़ी बोली की कविता के सम्यक् विकास का ही इतिहास है। आचार्य द्विवेदीजी के अनुयायियों में सबसे प्रधान स्थान उन्हीं का माना जाता है। खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में जैसी गुप्तजी के हाथ से मँजी वैसी किसी अन्य कवि के हाथ से नहीं। जिस समय और कवि अपनी रचनाओं में खड़ी बोली के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर पा रहे थे, बीच-बीच में ब्रज या अवधी का प्रयोग कर दिया करते थे, उसी समय से गुप्तजी ठीक चलती हुई खड़ी बोली का व्यवहार करते थे।

सबसे पहले गुप्तजी की भारत-भारती पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हुई। इसमें प्रसाद गुणयुक्त व्यवस्थित भाषा में देश-भक्ति के भावों का प्रचार किया गया था। इसलिए नवयुवकों और छात्रों ने बड़े प्रेम से इसका स्वागत किया। इस पुस्तक में कवि ने अपने विषय को काव्य का रसात्मक रूप देने का प्रयास नहीं किया था। केवल पद्य-रचना के लिए शुद्ध खड़ी बोली की उपयुक्तता उन्हें प्रमाणित करनी थी। उसके बाद उन्होंने काव्यात्मक पहलू को अपनाया और जयद्रथ वध, रंग में भंग, विरहिणी भ्रजांगना, पंचवटी आदि काव्यों की रचना की। इनमें सरसता और वर्णन की सुन्दरता है। नवयुवकों में इन काव्य-कृतियों का भी बड़ा स्वागत हुआ और गुप्तजी का स्थान हिन्दी-कवियों में बराबर ऊँचा होता गया। नयी काव्य-भाषा, नयी राष्ट्रीय उद्भावना और नयी अभिव्यक्ति की शैली गुप्तजी बराबर अपनाते गये। उन्होंने अपने विषयों का चुनाव इसी दृष्टि से किया कि वे अन्य कवियों से अलग एक नयी ही भावना को जन्म देने वाले बन गये। एक विद्वान ने गुप्तजी को आर्य-संस्कृति का आधुनिक वैतालिक माना है। सांस्कृतिक चेतना की पुकार उन्होंने बराबर सुनी है और हिन्दू राष्ट्रीयता को बराबर प्रश्रय

देते रहे हैं। उनकी रचनाओं में सिक्ख, बौद्ध, हिन्दू और मुस्लिम इन चारों संस्कृतियों का संगम है। उनकी अधिकांश रचनायें कथात्मक हैं। कथानक उनकी प्रतिभा के विकास का साधन-सा रहा है। उन्हें कथा-काव्यों और प्रबन्ध-काव्यों में अधिक सफलता मिली है। स्फुट काव्यों में कम। कवि ने अधिकांश कथानक अतीत के पृष्ठों से लिये हैं। वर्तमान संघर्ष में उन्हें उद्बोधन के लिए सामग्री कम मिली है इसलिए अतीत की ओर बराबर उनकी दृष्टि रही है। गुप्तजी पूर्व-गौरव की कथा वैष्णव की सी निष्ठा और तल्लीनता के साथ कहते हैं। अतीत के प्रति कवि का यह मोह स्वाभाविक है। उसके बिना वर्तमान और भविष्य की दिशा का निर्देश नहीं हो सकता। पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान लेकर ही हम आगे उन्नति कर सकते हैं और भविष्य की रचना में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

साकेत कवि का महाकाव्य है जो हिन्दी के राम-काव्य में अपना अलग स्थान रखता है। यहाँ आकर कवि की दृष्टि शुद्ध मानवता की ओर जाती है और एक लोकपावनतम चरित्र का लेकर वह चलता है। साकेत में कवि ने काव्य की दो उपेक्षिताओं—उर्मिला और कैकेयी—की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस दृष्टि से यह एक युगान्तरकारी रचना है। इसमें भरत के चरित्र का विकास भी अत्यन्त सुन्दर है। साकेत एक प्रकार से राम-कथा के उपेक्षित और ग्लानि भरे हृदयों का करुण चित्र है। वैसे राम, सीता, दशरथ, लक्ष्मण तथा हनुमान आदि वे चित्र भी सच्चे उतरे हैं। यशोधरा कवि की दूसरी अमर-कृति है। इसमें गौतम का गृहत्याग और उनके बुद्ध होकर लौटने की कथा है। यशोधर का कवि ने भारतीय नारी-जीवन के आदर्श की प्रतिमा के रूप में चित्रित किया है। बुद्ध का व्यापक निर्वाण-तत्त्व वैष्णव धर्म की व्याख्य से अभिभूत होकर और भी रमणीक बन गया है। यशोधरा के अनुरागिनी, मानिनी और जननी तीनों रूप बड़े मनमोहक हैं। वियोग की व्याकुलता और निष्ठा की तल्लीनता के सरस चित्र इसमें हैं।

द्वापर गुप्तजी की निराली कृति है। इसमें श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण - चरित्र का वर्णन किया गया है। पात्रों के नाम पर सगों का विभाजन किया गया है। हर पात्र आत्म-कथा द्वारा अपने चरित्र की विशेषतायें उद्घाटित करता है। नहुष में वृत्रासुर-वध के कारण इन्द्र के जल-समाधि लेने पर नहुष के इन्द्रासीन होने और वहाँ शची के साथ अमानवीय व्यवहार करने पर स्वर्ग से पतित होने का वर्णन है। इसमें जीवन के उत्थान और पतन की विवेचना की गयी है। कुणाल में कल्याण और आदर्श-निष्ठा दोनों प्रोज्ज्वल हो उठे हैं।

गुप्तजी ने भिन्न भिन्न शैलियों में काव्य के सफल प्रयोग किये हैं। भाषा सर्वत्र सौँचे में ढली-सी प्रतीत होती है, यद्यपि उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कम है। तुक का आग्रह कहीं-कहीं भाषा को कृत्रिम बना देता है। वहाँ वे अप्रचलित शब्द ले आते हैं। पर शब्दों में ध्वन्यात्मकता वे विशेष रूप से रखते हैं। विषय, भाव, भाषा, शैली और आदर्श चरित्रों की कल्पना सभी दृष्टियों से गुप्तजी का स्थान हिन्दी-कवियों में अनूठा है। भारतीय संस्कृति के वे सफल गायक हैं। द्विवेदी-युग और छायावादी युग के बीच की कड़ी बन कर वे हमारे सम्मुख आते हैं। देश के लिए — संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए उनके हृदय में अगाध ममता और प्रेम है। वीर - पूजा की भावना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।



भरत-माण्डवी

जयति कपिध्वज के कृपालु कवि, वेद-पुराण-विधाता व्यास ;
 जिनके अमर गिराश्रित हैं सब धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास ।
 बरसें बीत गईं, पर अब भी है साकेत पुरी में रात ;
 तदपि रात चाहे जितनी हो, उसके पीछे एक प्रभात ।
 मास हुआ, आकाश, भूमि क्या, बचा कौन अधियारे से ?
 फूट उसी के तनु से निकले तारे कच्चे परे-से !
 विकच व्योम-विटपी को मानों मृदुल बयार हिलाता है ;
 अंचन भर-भरकर मुक्ता-फल खाती और खिलाती है !
 सौध-पार्श्व में पर्णकुटी है, उसमें मंदिर सोने का ;
 जिसमें मणिमय पादपीठ है, जैसा हुआ, न होने का ।
 केवल पादपीठ, उस पर हैं पूजित युगल पादुकायें ;
 स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप हैं दोनों के दाये-बायें ।
 उरज-अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है !
 आप देव-विग्रह मन्दिर से निकल लीन-सा बैठा है ।
 मिले भरत में राम हमें तो, मिलें भरत को राम कभी ;
 वही रूप है, वही रङ्ग है, वही जटाएँ, वही सभी !
 बाईं ओर धनुष की शोभा, दाईं ओर निषंग-छटा ;
 वाम पाणि में प्रत्यंचा है, पर दक्षिण में एक जटा !
 “आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किये ;
 आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिये !”
 सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर, किन्तु न टूटा उनका ध्यान ;
 कब आ पहुँची वहाँ माण्डवी, हुआ न उनको इसका ज्ञान ।
 चार चूड़ियाँ थीं हाथों में, माथे पर सिंदूरी बिन्दु ;
 पीताम्बर पहने थी सुमुखी, कहाँ असित नभ का वह इन्दु ?

फिर भी एक विषाद बदन के तपस्तेज में पैठा था ;
 मानों लौह-तन्तु मोती को वेध उसी में बैठा था ।
 वह सोने का थाल लिये थी, उस पर पत्तल छाई थी ;
 अपने प्रभु के लिए पुजारिन फलाहार सज लाई थी ।
 तनिक ठिठक कुछ मुड़कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर ;
 शीस झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर ।
 हाथ बढ़ाकर रक्खा उसने पादपीठ के सम्मुख थाल ;
 टेका फिर घुटनों के बल हो द्वार-देहली पर निज भाल ।
 टपक पड़ों उसकी आँखों से बड़ी-बड़ी बूँदें दो चार ;
 दूनी दमक उठीं रत्नों की किरणें उनमें डुबकी मार ।
 यही नित्य का क्रम था उसका, राज-भवन से आती थी ;
 श्वश्रू-सुश्रूषणी अन्त में पति-दर्शन कर जाती थी ।
 उठ धीरे, प्रिय-निकट पहुँचकर, उसने उन्हें प्रणाम किया ;
 चौक उन्होंने, सँभल 'स्वस्ति' कह उसे उचित सम्मान दिया ?
 "जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना का क्या फल निकला ?"
 हँसने की चेष्टा करके भी हा ! रो पड़ी बधू विकला ।
 "यह विषाद भी प्रिये, अन्त में स्मृति विनाद बन जावेगा ;
 दूर नहीं अब अपना दिन भी आने को है आवेगा ।"
 'स्वामी, तदपि आज हम सबके, मन क्यों रो-रो उठने हैं ;
 किसी एक अव्यक्त आत्ति से आतुर हो हो उठते हैं ।"
 "प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह, सदा शंकिनी आशा है ;
 होकर भी बहु चित्रशंकिनी, आप रंकिनी आशा है ।
 विस्मय है, इतनी लम्बी भी अवधि बीतने पर आई ;
 खड़ा न हो फिर नया विघ्न कुछ, स्वयं सभय चिन्ता छाई ।
 सुना, नित्य जन मनःकल्पना नया निकेत बनाती है ;
 किन्तु चंचला उसमें सुख से पल भर बैठ न पाती है ।
 सत्य सदा तब हीने पर भी, विरूपाक्ष भी हाँता है ;

और कल्पना का मन केवल सुन्दरार्थ ही रोता है। तो भी अपने प्रभु के ऊपर है मुझको पूरा विश्वास; आर्य कहीं हों, किन्तु आर्य के दिये वचन हैं मेरे पास। रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से; टोक सकेगा रामचन्द्र को कौन अयोध्या आने से?" "नाथ, यही कहकर माँओं को किसी भाँति कुछ खिला सकी; पर उर्मिला बहन को यह मैं आज न जल भी पिला सकी। 'कहाँ और कैसे होंगे वे?'—कह-कह माँएँ रोती हैं; काँटे उन्हें कसकते होंगे—रह-रह धीरज खोती हैं। किन्तु बहन के बहनेवाले आँसू भी सूखे हैं आज; वरुनी के बरुणालय भी वे अलकों-से रूखे हैं आज!"

लक्ष्मण-उर्मिला मिलन

पाकर अहा ! उमंग उर्मिला-अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा—'कहाँ ये रंग भरे थे ?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सबी माया।
किन्तु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया।
फड़क रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है,
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें सशय या भय है ?
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ बलि बलि जाऊँ।'
"हाय ! सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वखालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?
मैंने जो वह 'दग्धवर्तिका' चित्र लिखा है,
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है ?
नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,

जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
 शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है !
 अरी, हृदय की प्रीति, हृदय पर ही होती है।”
 “किन्तु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने ?”
 “तो, ला भूषणवसन, इष्ट हों तुझको जितने।
 पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
 वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं ?”
 “अपराधी - सा आज वही तो आने को है,
 बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है।
 कल रोती थीं आज मान करने बैठी हो,
 कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हों ?
 रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है,
 पर वह हिमकण बिना कहाँ शोभा पाती है ?”
 “तो क्या आँसू नहीं सखी, अब इन आँखों में ?
 फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में !”
 “प्रीति-स्वानि का पिया शुक्ति बन-बनकर पानी,
 राजहसिनी, चुनो रीतिमुक्ता अब रानी !”
 “विरह रुदन में गया, मितल में भी मैं रोऊँ,
 मुझे और कुछ नहीं चाहिये, पद-रज धोऊँ।
 जब थी तब थी आनि, उर्मिला उनकी रानी,
 वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी !
 अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
 मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी।
 युवती हो या आनि, उर्मिला बाला तन से,
 नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से,
 देखूँ, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को,
 या सजबज कर आप दिखाऊँ मैं अपने को ?

सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,
 लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको ।
 उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,
 निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली !
 मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,
 फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते ।
 टपक रही वह कुंज-शिला वाली शेफाली,
 जा नीचे, दो-चार फूल चुन, ले आ डाली !
 वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह !”
 “किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह !”
 देखा प्रिय को चौक प्रिया ने, सखी किधर थी ?
 पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी !

गीत

[१]

दोनों ओर प्रेम पलता है ।
 सखि पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है ?
 सीस हिलाकर दीपक कहता—
 “बन्धु वृथा ही तू क्यों दहता ?”
 पर पतंग पड़ कर ही रहता ?
 कितनी विह्वलता है !
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।
 बच कर हाय ! पतंग करे क्या ?
 प्रणय लोड़कर प्राण धरे क्या ?
 जले नहीं तो मरा करे क्या ?
 क्या यह असफलता है ?
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

कहता है पतंग मन मारे—
 “तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
 क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
 शरण किसे छलता है ?”
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।
 दीपक के जलने में आली,
 फिर भी है जीवन की लाली
 किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
 किसका वश चलता है ?
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।
 जगती वाणिग्वृत्ति है रखती,
 उसे चाहती जिससे चखती;
 काम नहीं, परिणाम निरखती,
 मुझे यही खलता है,
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

[२]

जीव हुई है तुमको भ्रान्ति;
 शान्ति नहीं, यह तो है श्रान्ति ।
 अरे, किवाड़ खोल, उठ, कब से मैं हूँ तेरे लिए खड़ा;
 सोच रहा है क्या मनही मन मृतक-तुल्य तू पड़ा-पड़ा ।
 बढ़ती ही जाती है क्लान्ति;
 शान्ति नहीं, यह तो है श्रान्ति ।
 अपने आप घिरा बैठा है तू छोटे-से घेरे में;
 नहीं ऊबता है क्या तेरा जी भी इस अन्धेरे में ?
 मची हुई है नीरव क्लान्ति;
 शान्ति नहीं, यह तो है श्रान्ति ।

द्वार बन्द कर के भी तू है चन नहीं पाता डर से;
तेरे भीतर चोर घुसा है उसको तो निकाल घर से ।

चुरा रहा है वह कृति-कान्ति;

शान्ति नहीं, यह तो है श्रान्ति ।

जिस जीवन की रक्षा के हित है तू ने यह ढंग रचा,
होकर यों अवसन्न और जड़ वह पहले ही कहाँ बचा !

जीवन का अस्तित्व अशान्ति;

शान्ति नहीं, यह तो है श्रान्ति ।

कुब्जा

कंसराज के लिये ले चली, फूल और चन्दन में,
पहुँच पार्श्व से बोला पथ में “शुभे, नन्द - नन्दन में ।
किसके लिये लिये जाती हो तुम पूजा की थाली ?”
यह कह कर क्या जाने कैसे मुसकाया वनमाली ।
रवि - शशि लटके रहें शून्य में उसमें सार भरा था,
धन्य, धरा ने ही उस धन का गौरव—भार धरा था ।
अथवा अपने पैरों पर ही खड़ा आप वह नरवर,
बची रसातल जाने से यह धरा वही पद धर कर ।
कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था, कच कन्धरा ढँके थे ;
स्वर्ण-वर्ण के उत्तरीय में चित्रित रत्न टँके थे ।
दुगने - से दो भुज विशाल थे पार्श्व छीलते छिलते ;
गण्ड-द्युति-मण्डल से मण्डित श्रुति-कुण्डल थे हिलते ।
चिबुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर चेरा,
वे दो आँठ न थे, राधे, था एक फटा उर तेरा !
फिर भी उसके दन्त - हास में मोती खो जावेंगे ;
उस नासा को निरख कुटिल भी, सीधे हो जावेंगे ।

देख लिया मैंने सहस्रदल, ले उस मुख की माँकी ;
 वृद्ध न होकर बाल बनी थी पलट प्रौढ़ता बाँकी !
 उन काली आँखों में कैसी उजली दृष्टि निहारी ;
 जान पड़ा ब्रज - कुञ्ज - बिहारी मुझको विश्व - बिहारी ।
 श्याम - रूप हो, न हो, राम ही पुनः आप आया वह ;
 पर इस कंसपुरी में भी क्यों नहीं चाप लाया वह ?
 हृदय सशंक हुआ पर आहा ! बंक भृकुटियाँ तीखीं ,
 निज विलास में विश्व नचाती, वशीधर की दीखीं ।
 मेरे मन की मूर्त ढली थी उसके साँचे में वह ;
 खेल रहा था नारायण ही नर के ढाँचे में वह ।
 मोर-पंख भी मुकुट बना था उसके अपनाने से ।
 सिंह पुरुष बन जाय हाय वह ! पीताम्बर पाने से ।
 पड़ी तरल यमुना तरङ्गिणी घनी खड़ी हो जावे ,
 तो उस अङ्ग - भङ्गिमा का कुछ रङ्ग - ढङ्ग वह पावे ।
 वह सजीव रचना थी युग की पल में आकर भलकी ;
 नहीं समाई जड़ - जङ्गम में छबि उसकी जो छलकी ।
 काम - रूप - धारी वह जलधर जगमग ज्योतिर्मय था ;
 घन होकर भी सहृदय था वह, निर्भय किन्तु सदय था ।
 ललित गभीर तदपि चञ्चल-सा वह विस्फूर्ति-भरा था ;
 मूर्तिमन्त भव - भद्र भाद्र सा श्यामल हरा हरा था ।
 राधा ने पहनाया होगा वह रण - कंकण उसको ;
 और मिल चुकी थी जय निश्चय वहीं उसी क्षण उसको ।
 ब्रजरानी के विजयी वर के धरे चरण ही चेरी ;
 पर अपने अतिरिक्त भेंट क्या हो सकती है मेरी ?
 देखा मैंने, देव आज ही मेरे आगे आया ;
 अब तक दानव - पूजन में ही मैंने जन्म गँवाया ।
 मैं ऊँची न हो सकी, फिर भी हिलते हाथ बढ़ाये ;

माथे में चन्दन, चरणों पर मैंने फूल चढ़ाये ।
 बायें कर से सिर सँभाल तो धर दायें से ठोड़ी ;
 किया मुझे उत्कर्षित उसने, शक्ति लगा कर थोड़ी ।
 देख पैर उठते चरणों से हँस कर इन्हें दबाया ;
 मैं उठ गई और कूबड़ का मैंने पता न पाया !
 चमक गई बिजली सी भीतर नस-नस चौक पड़ी थी ;
 तनी जन्म की कुब्जा क्षण में सरला बनी खड़ी थी ।
 चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर मायावी मुसकाया ;
 हुआ नया स्पन्दन उर में, पलट गई यह काया ।
 मैं ही नहीं सृष्टि ही सारी पलट गई थी पल में ;
 उतर इन्द्र का नन्दन बन - सा छाया था भूतल में :
 इस भव में रस और भाग था मेरा भी उस रस में ;
 छूटे स्रोत, साथ ही शतदल फूटे इस मानस में ।
 सत्य हुआ मैं देख रही थी अनदेखे सपने को ;
 आत्म - ग्लानि छोड़कर मैंने देखा तब अपने को ।
 "अब फिर कभी मिलूँगा" कहकर हँसता चला गया वह ,
 ज्यों ज्यों दूर गया, मानस में धँसता चला गया वह ।
 धरती ही देखी थी मैंने पृष्ठ-भार से झुक कर ।
 अब ऊँची ग्रीवा कर सीधी देखा नभ रुक रुक कर ।
 ओ हो ! वही सुनील वर्ण था उसी मदनमोहन का ,
 एक पक्षिणी तुल्य ठौर ही बहुत वहाँ इस जन का ।
 हरा - भरा भूतल भी ऐसा देखा मैंने कब था ,
 शस्यश्यामल वर्ण वहाँ भी उसी श्याम का अब था ।
 अहा ! उसी में एक कुसुम सा यह जन भी खिल जावे ;
 मुझे और कुछ नहीं चाहिए, बस इतना मिल जावे ।
 देखा मैंने, रँगा उसीके रँग में निर्मल जल है ;
 अनल उसी की आभा धारे, अनिल गंध-गति-बल है ।

एक तरङ्ग एक चिनगारी, एक साँस मैं उसकी,
 बजे बेणु उस नटनागर की, एक आँस मैं उसकी !
 मेरा तत्त्व - तत्त्व तन्मय था, किसे कंस का भय था ;
 लौट पड़ी मैं घर वैसी ही, जन जन को विस्मय था ।
 किन्तु मुझे निर्जन अभीष्ट था; चिन्तनार्थ कुछ मन के ;
 अपने को भी देख सकी थी मैं क्या बिम्बित बन के ।
 लेने नहीं, राज्य देने ही वह विक्रान्त चला था ;
 कंस मरा पर उग्रसेन का फिर भी भाग्य भला था ।
 रोता देख वृद्ध नृप को वह बोला—“नाना ! नाना !”
 मिन वसुदेव देवकी ने भी भर पाया मनमाना ।
 आने की न आप कहता तो कुब्जा क्या राधा थी ?
 मैं तो चेरी थी, जाने में मुझे कौन बाधा थी ?
 किन्तु आज आकुल है वन में जैसी वह ब्रज-रानी ;
 दासी ने घर बँठा उसकी मर्म - वेदना जानी ।
 अथवा एक परस में ही जब तरस रहा मैं इतनी,
 होगी विकल न जाने तब वह सदा - संगिनी कितनी ?
 होती हाय ! आज कुब्जा ही यदि राधा की दूती ;
 जाकर शरण इसी मिस से वे अरुण चरण तो छूती ।
 कल्प हुआ यह जिस काया का, इसे कहाँ ले जाऊँ ?
 आवे वही, उसे अर्पण कर, परित्राण मैं पाऊँ ।
 दे न गया वह यह शरीर ही हाय शील भी ऐसा,
 करते बनता नहीं, चाहती हूँ मैं करना जैसा,
 आया नहीं विसासी अब भो, वस ये आँसू आये,
 अहा ! उसी लावण्य सिन्धु का रस ये आँसू लाये ।
 पी पा कर मैं इन्हें, भाग्य को अब भी कैसे काँसूँ ?
 पर अजान इस आतुर उर को कब तक पालूँ-पासूँ ?
 आई रात हुआ चन्द्रोदय, मैंने यही विचारा—

वह शशि है मैं निसि होऊँ या वह तमिस्र मैं तारा !
 हुआ प्रभात और अरुणोदय गुँजी उर की अलिनी ;
 उसी पूर्व की फटती पौ मैं उसी हंस की नलिनी ।
 चढ़ी बहुत निज नील गगन में, मैंने पार न पाया ;
 दुलक पड़ी मैं आप ओस - सी हा ! आधार न पाया ।
 रह सकता है बस यह पानी उन्हीं नखों पर चढ़ के ;
 किन्तु पधारे कहाँ चरण वे, लूँ मैं जिनको बढ़के ।
 वह भीतर ही रहा, व्यर्थ ये द्वार सजाये मैंने ;
 श्रुति - अतीत वह, क्यों इस तन के तार बजाये मैंने ?
 क्यों घृत - दीप जलाये मैंने ? माखन - चोर न आया ;
 फिर भा अन्तर मैं तो छाया वह नव - घन मन-भाया ।
 स्नेह-हीन दीपक सो जावें, सजग, सजल लोचन तो ,
 फीके पड़ें सुमन चिन्ता क्या ? अनुरंजित यह मन तो ।
 मेरा अतिथि देव आवे तो मैं सिर माथे लूँगी ;
 उसने मुझको देह दिया, मैं उसे प्राण भी दूँगी ।
 धड़क न वक्त, कत्त मे है वह, फड़क वाम - भुज मेरे ;
 मिले मिलनमय अन्त मुझ, तो सफल सभी रुज मेरे ।
 रहें भ्रान्तियाँ रहें श्रान्तियाँ, रहें क्रांतियाँ चाहे :
 नटवर ! तेरा नाट्य-बन्ध निज सन्धि शान्ति निवाहे ।
 क्रांति हो चुकी, श्रान्ति मेट अब आ, मैं व्यजन करूँगी ;
 मांती न्योछावर करके, वे श्रम - कण बीन धरूँगी ।
 मेरा ही अधिकार वहाँ, सुन राधा रुष्ट न होंगी ;
 दासी को वंचित कर, तेरी रानी तुष्ट न होगी ।
 वह ब्रज-रानी भी नारी है, यह सरला भी नारी ;
 आत्म-समर्पण के दोनों जन हम समान अधिकारी ।
 एक पुरुष से योषित्ता ने, सहज किसे न मिलाया ;
 पर मेरा नारीत्व निहत था, तूने आप जिलाया ।

कूषड़ न था, कुण्डली पकड़े—जकड़े मुझे पड़ा था ;
 तूने कौन मन्त्र फूँका, वह उठ हट दूर खड़ा था !
 किन्तु विरह-वृश्चिक ने आकर अब यह मुझको घेरा ,
 गुणी गारुड़िक, दूर खड़ा तू कौतुक देख न मेरा ।
 तू न आज भी आवेगा तो मैं ही कल जाऊँगी ;
 कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो तेरी मैं पाऊँगी ।
 यही कहेगा न तू—“अधीरे, निकली तू चेरी ही !”
 हाँ, हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी, तेरी ही, तेरी ही ।
 गये हुए धन-सा, मन में ही रक्खूँ क्या मैं तुझको ?
 तो यह मेरा तन क्यों तू ने दिया बनाकर मुझको ?
 रोम रोम बस तुझे पुलक - सा पाकर जड़ रह जावे ;
 और उन्हीं चरणों में जीवन, स्वेद बना बह जावे ;
 पत्र पत्र में तेरी आहट चौंकाती आती है ;
 किन्तु प्रतीक्षा में ही बेला—बीत बीत जाती है ।
 निद्रा तेरा स्वप्न ले गई, अरे सत्य अब आ जा ;
 जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं, ओ राजों के राजा !
 अहोरात्र के पंख लगाकर, सुध-सी उड़ती हूँ मैं ;
 तेरे मिलने को अपने से आप बिलुडती हूँ मैं ।
 और बड़ा कौतुक तो यह, तू यहीं कहीं बैठा है ;
 ओ कठोर, कह किस कोठे में तू घुसकर पैठा है ?
 तेरी व्यथा बिना मुन मेरी कथा न पूरी होगी ;
 तू चाहे जिसका योगी हो, मेरा क्षणिक, वियोगी ।
 तेरे जन अगणित, परन्तु मैं एक विजनता तेरी ;
 बस इतनी ही मति है मेरी, इतनी ही गति मेरी ।



माखनलाल चतुर्वेदी

‘एक भारतीय आत्मा’

चतुर्वेदीजी हिन्दी में अपनी एक विशेष धारा के प्रवर्तक हैं। वह धारा अधिक शक्ति लेकर आज भी बह रही है। छायावादी युग और द्विवेदी-युग के बीच की कड़ी होने हुए भी उन्होंने हिन्दी-कविता में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदर्शित किया है। उनकी राष्ट्रीय कवितायें हिन्दी की सर्वप्रथम प्रगतिशील कवितायें मानी जायेंगी। विषय और अभिव्यजना - प्रणाली दोनों में कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है।

भावों का माधुर्य, कल्पना की मिठास और उक्ति-वैचित्र्य आप की कविता के प्रमुख गुण हैं। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता और पद्यात्मकता से आप की कविता मुक्त है। उसमें हृदय का सहज आवेग है और कहने का चमत्कारपूर्ण ढङ्ग भी। छायावादी काल्पनिकता और हवाईपन भी आप पर अपना प्रभाव न डाल सका। आपने वैयक्तिक और राष्ट्रीय अनुभवों को काव्य का व्यापक जामा पहनाया। सदैव आप की कविता के साथ जीवन का एक भौमिक लगाव रहा। राष्ट्रीय पराभव की वेदना आपकी कविता में बड़े स्वाभाविक रूप से फूटी है। उक्ति-वैचित्र्य के फेर में पड़ कर कहीं-कहीं आप अस्पष्ट और अत्यधिक वक्र हो जाते हैं। पर अधिकांश स्थलों पर आपने लाक्षणिक वक्रता को सफलतापूर्वक अपनाया है।

चतुर्वेदीजी की भाषा में उनकी कोटि के अन्य कवियों जैसी व्यवस्था और परिमार्जन नहीं है। कहीं-कहीं तो बड़े अनगढ़ प्रयोग मिलते हैं। उर्दू और फारसी के शब्दों को आपने सदैव प्रश्रय दिया

है। उनकी भाषा के कलात्मक सौन्दर्य का अभाव उनकी स्वाभाविक भावना की मिठास पूर्ण कर देती है। कहीं-कहीं उनके सूक्ष्म संवेदनों और संकेतों को उनकी भाषा अभिव्यक्त नहीं कर पाती और ऐसा लगता है जैसे कवि रहस्यात्मक बन गया है। कहीं-कहीं चिंतन की प्रधानता अनुभूति का स्थान ले लेती है। कवि की दार्शनिक चिन्ता पर सूफी विचार-धारा का प्रभाव भी पड़ा है जो उनके सम्बोधनों और उक्ति-लाघवों से स्पष्ट होता है। उनकी भाषा का बोंकपन निराला होता है। मादकता का एक निराला वानावरण आपकी कविता में बन जाता है। भाव-पक्ष की प्रबलता के साथ-साथ उक्ति-छटा देखते बनती है। मध्यप्रान्त का प्राकृतिक और वन्य-सौन्दर्य आप की कविता में खूब उभरा है। प्रकृति के मनोहर रूपों के साथ हृदय की अन्तःस्थितियों का सामंजस्य स्थापित करने में आपको पूर्ण सफलता मिली है।

देश में राष्ट्रीयता की भावना फैलाने में गुप्त जी की कविता के बाद चतुर्वेदी जी की कविता का ही सबसे अधिक हाथ रहा है। व्यापक राष्ट्रीय असन्तोष, विद्रोह और आज आप की कविता में मिलता है। राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहने के कारण आपके काव्य में एक सच्चाई है, जो उसकी अन्तर्भावना को उद्घोष कर देती है। प्रेम, आनन्द, नैराश्य, उल्लास, वीरत्व और देश-भक्ति के भाव ही अधिकतर आपकी कविता में मिलते हैं।

कहीं-कहीं प्रेमानुभूति भी आपके काव्य में अभिव्यंजित हुई है। इस प्रकार की कविताओं में कवि ने स्वछन्दतावाद का परिचय दिया है। ये कवितायें हृदय की सुकुमारतम प्रवृत्तियों को लेकर चलती हैं। यह प्रेमानुभूति दार्शनिक रूप ले लेती है और कवि दार्शनिक बन कर जीवन के रहस्य की जिज्ञासा का भाव झलकाता है। हिन्दी और मराठी सन्तों की वाणी और दार्शनिक सूक्तियों का प्रभाव भी कवि पर

पड़ा है, जिसमें वह अपने मन की मिठास मिला देता है। कवि की कविताओं में एक संगीत निहित प्रतीत होता है। यह संगीत उनके शब्द-चयन से और भी सजीव हो उठता है। देश पर जीवन देने वाले शहीदों के प्रति पूजा-भाव, आत्म-बलिदान की प्रेरणा और आकांक्षा, कष्ट-सहन की साध और राष्ट्रीय पौरुष के अजस्वी बोल आप की कविता में मिलते हैं।

चतुर्वेदीजी का व्यक्तित्व हमारे प्रान्त में विशेष रूप से प्रेरणा-मय रहा है। उनके पत्र 'कर्मवीर' ने न जाने कितने तरुणों को काव्य-रचना के लिए उत्साहित किया है। आप उच्चकोटि के वक्ता और सम्पादक भी हैं। गद्य-काव्य भी आपने लिखे हैं, जिनका संग्रह 'साहित्य-देवता' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'हिमकिरीटिनी' और 'हिमतरंगिनी' आपके कविता-संग्रह हैं। कविता में आप सूक्ष्म को अधिक महत्व देते हैं पर वह सूक्ष्म केवल चमत्कार पर आश्रित न हो, उसमें अनुभूति की तीव्रता और मन की मिश्री भी घुली हो। छायावादी कवियों की भोंति कला की पूर्णता और सौन्दर्य-साधना न करके आपने जीवन के अनुभवों को काव्य का विषय बनाया है। कहीं-कहीं आप की कविता बड़ी कठिन और दुरूह हो जाती है। उसका भाव भी मन में स्थिर नहीं हो पाता और अनुभूतियाँ सामंजस्यविहीन जान पड़ती हैं। पर उनकी प्रेरणा पाठक को स्पष्ट हो जाती है।



तेरे घर पहिले होता विश्व सबेरा !

मुक्त गगन है, मुक्त पवन है, मुक्त साँस गरबीली
 लाँघ सात लाँबी सदियों को हुई शृंखला ढीली ।
 टूटी नहीं कि लगा अभी तक उपनिवेश का दाग,
 अरे तिरंगे तुझे उड़ाये जगा जगा कर आग ।
 उठ रण-राते ओ बलखाते विजयी भारतवर्ष,
 नक्षत्रों पर बैठ पर्वज माप रहे हस्तर्ष ।
 ओ पूरब के प्रलयी पंथा ओ जग के सेनानी,
 होने दे भूकम्प कि तूने आज भृकुटियाँ तानी ।
 तेरे नभ पर उड़ जात हैं वायुयान ये किसके ?
 भुजवज्रों पर मुक्तिस्वर्ण को क्यों न देख ले घिस के ?
 तीन ओर सागर लहराता, लहरें दौड़ी आतीं,
 चरण भुजा कटिबंध भूमि तक वे अभिप्रेक सजातीं ।
 उठ पूरब के प्रहरी पश्चिम घूर रहा घर तेरा,
 साबित कर तेरे घर पहले होता विश्व सबेरा ।
 सूँघों में, साँघों में, सागर में, श्रम में, ज्वारों में,
 जीने में, मरने में, प्रतिभा में, आविष्कारों में ।
 तुझ पर पड़ जो किरणें जूठी हो जातीं, जग पाता,
 जीने के ये मंत्र रक्त से लिखों भाग्य-विधाता ।
 तीन तरफ सागर की लहरें जिसका बने बसेरा,
 पतवारों, पर नियति सजावे जिसके साँझ सबेरा ।
 बनती हों मल्लाह मुट्टियाँ जहाँ भाग्य की रेखा,
 रतनाकर टकरा-टकरा कर दे रतनों का लेखा ।
 उस लहरीले घर के झंडे देश-देश में लहरें,
 लहरों में जाग्रत नर प्रहरी कभी न गति में ठहरें ।
 चिन्तक चिन्ता-धारा तेरी विश्व-प्राण पा बैठी ।

रे योद्धा प्रत्यंचा तेरी उठ कि वाण पा बैठी ।
 प्रबल शत्रु का वेग कुचल विजयी हो देश तुम्हारा ,
 लान किले के भंडे में अंगुलि-निर्देश तुम्हारा ।
 ब्रिटिश राज जब टुकड़े टुकड़े हुआ कि फिर किसका भय,
 उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम, लख तेरी ही जय जय ।
 मस्तक पर दायित्व, भुजा में शस्त्र, दृगों में ज्वाला,
 तेरी हुंकारों पर उमड़े कांटी-कांटी जयमाला ।
 तीस करोड़ धड़ों पर जीवित तीस कांटी ये सिर हैं,
 तुम संकेत करो कि हथेली पर हँस कर हाजिर हैं ।

हिम किरीटिनी

री सजनि, वन-राजि की शृङ्गार !

समय के वन-मालियों की कलम के वरदान ,
 डालियों, काँटों भरी के ऐ मृदुल-अहसान !
 मुग्ध मस्तों के हृदय के मुँदे तत्त्व अगाध ,
 चपल अलि की परम संचित गूँजने की साध ।

बाग का बागी हवा की मानिनी खिलवाड़ ,
 पहन कर तेरा मुकुट इठला रहा है भाड़ ।

खोल मत निज पंखियों का द्वार ,
 री सजनि, वन-राजि की शृङ्गार !

आ गया वह वायु-वाही, मित्र का नव राग ,
 बुलबुल गाने लगी है जाग प्यारी जाग !

प्रेम-प्यासे गीत गढ़, तेरा सराहें त्याग ,
 रागियों का प्राण है तेरा अतुल अनुराग ।
 पर न वनदेवी, न सम्पुट खोल, तू मत जाग ,
 विश्व के बाजार में मत बेच मधुर पराग !

खुली पंखड़ियाँ, कि तू बे-मोल ,

हाट है यह; तू हृदय मत खोल ।

वृक्ष के अन्तर हृदय की री मृदुलतर शक्ति ,

फलों की जननी, सुगंधों की अमर अनुरक्ति !

छोड़ तू बड़भागिनी, ये उभय लालच छोड़ ,

आज तो सिर काटने में हो रही है होड़ !

अरी व्यर्थ नहीं, कि प्रियतम माँगता है दान ,

ले अमर तारुण्य अपने हाथ, हों कुरबान !

मिटेंगी ?—मिट जाँय चञ्चल चाह ,

मुँदी रह, तू हो न अरी तबाह !

हँस रही हैं और हँस लें खूब, तू मत बोल ,

भोगियों के चरण की कुचलन बनाकर मोल ।

तुच्छ से अनुराग पर, वे खो रही हैं त्याग ,

राग पर उनके; हुआ अपमान-भोगी बाग ।

चाह तेरी भी बनेंगी, नाश का गोदाम ?

क्या तुझे भी चाहिए तारुण्य का नीलाम ?

सँभल, अन्तिगण छू न पाँय पराग ,

भैरवी सोरठ समझ, मत जाग !

क्या कहा “कैसे सहूँ इस कोकिला की हक ?

और मैना की मधुरता कर रही दो टूक ?

मृदुल चिड़ियों की चहक पर महक है बचैन ?

यह सबरे की हवा, आगयी बनकर मैंन ?”

ठीक है, तब भी छिड़े तेरा प्रलय से जङ्ग ,

री प्रसादिनि, हो न तेरा वह तरुण तप भङ्ग !

भावुकों के ऐ अमित अभिमान ,

जाग मत, अथ पर न कर अवसान ।

मित्र के कर फेंकते तुझ पर सुनहली धूल ।

डालि पर तेरी रही निर्दय मुनैया भूल ।

कर रहे तुझको हवा पत्ते, अपनपा भूल ,

कामिनी का, दे रहा भाड़ें, प्रमत्त दुकूल ।

पर न इनकी मान तू, हैं शाप ये वरदान ,

हिम-किरीटिनि ने मँगाये हैं सखी तव प्राण ।

बिना बोले, मातृ - चरणों डोल ,

और उस दिन तक हृदय मत खोल !

जब सिपाही उठें, सेनानी उठे ललकार ,

मातृ-बन्धन मुक्ति का जिस दिन मने त्यौहार ,

जबकि जनपथ लाल हों, हो किसी की तलवार ,

आयगा सिर काटने उस दिवस मालाकार ;

करेगा हुँकार, कलियाँ बन्द, हों तैयार !

सूजियों से छेदने में आज उनकी बार !

यह मधुर बलि, हो विजय का मोल ,

मानिनी, तब तक हृदय मत खोल ।

हिम - किरीटिनि की परम उपहार ;

री सजनि, वन-राजि की शृङ्गार !

जवानी

आज अंतर में लिये, पागल जवानी !

कौन कहता है कि तू

विधवा हुई, खो आज पानी ?

चल रही घड़ियाँ, चलें नभ के सितारे ,

चल रही नदियाँ, चलें हिम-खंड प्यारे ,

चल रही है साँस, फिर तू ठहर जाये ?
दो सदी पीछे कि तेरी लहर जाये ?
पहन ले नर - मुण्ड - माला ,
उठ, स्वमुण्ड सुभेस कर ले ;
भूमि-सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे साथ हैं, उठ री जवानी !
द्वार बलि का खोल चल, भूडोल कर दे ,
एक हिम-गिर एक सिर का माल कर दे ,
मसल कर अपने इरादों सी, उठा कर ,
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दे ?
रक्त है ? या है नसों में छुद्र पानी !
जाँच कर, तू सीस दे दे कर जवानी ?

वह कली के गभे से, फल-रूप मे अरमान आया !
देख लो मीठा इरादा, किस तरह सिर तान आया !
डालियों ने भूमि पर लटका दिये फल, देख आली !
मस्तकों को दे रही सकेत कैसे, वृक्ष-डाली !
फल दिया ? या सर दिया ? तरु की कहानी ?
गूँथ कर युग में, बताती चल जवानी !

श्वान के सिर हो—चरण तो चाटता है !
भोंक ले—क्या सिंह को बह डाँटता है ?
रोटियाँ खायीं कि साहस खा चुका है ,
प्राणि हो पर प्राण से बह जा चुका है ।
तुम न खेलो ग्राम-सिंहों से भवानी !
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी !
ये न मग हैं, तव चरण की रेखियाँ हैं ,
बलि - दिशा की अमर देखा-देखियाँ हैं ।
विश्व पर पद से लिखे कृति लेख हैं ये ,

धरा - तीर्थों की दिशा की मेख हैं ये ।
 प्राण - रेखा खींच ये, उठ बोल रानी ,
 री मरण के माल की चढ़ती जवानी ।
 टूटता - जुड़ता समय ' भूगोल ' आया,
 गोद में मणियाँ समेट खगोल आया ,
 क्या जले बारूद ?—हिम के प्राण पाये !
 क्या मिला ? जो प्रलय के सपने न आये ।
 धरा ?—यह तरबूज है दो फाँक कर दे ,
 चढ़ा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी ।
 विश्व माने—तू जवानी है, जवानी !
 लाल चेहरा है नहीं—फिर लाल किसके ?
 लाल खून नहीं ? अरे, कंकाल किसके !
 प्रेरणा सोयी कि आटा दाल किसके ?
 सिर न चढ़ पाया कि छाया-भान किसके ?
 नेह की वाणी कि हो आकाश-वाणी ,
 धूल है जो जग नहीं पायी जवानी ।
 विश्व है असि का ?—नहीं सकल्प का है ।
 हर प्रलय का कोण काया-कल्प का है ,
 फूल गिरते; शूल सिर ऊँचा लिये हैं ,
 रसों के अभिमान को नीरस किये हैं !
 खून हो जाये न, तेरा देख, पानी ,
 मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी ।

अन्धकार

सूर्य जले, चन्दा जले, उडुगन जलें स-हास ,
 इनके काजल से न हो यों काला आकाश ?

तुम देखो नभ में लगे अँगारे से ये विधि-बाला के,
 या अन्धकार पर बिखरे फूल पड़े हैं सुरमाला के !
 अंधकार ही पर क्यों सूरज, अपनी किरनें अजमाता है ।
 अन्धकार पर बैठ चाँद क्यों मधुर चाँदनी उकसाता है ?
 अंधकार में कवि को क्यों करुणा को तान सूझ जाती है ?
 अंधकार में प्रेमी को क्यों प्रीतम की हिलोर आती है ?
 अंधकार में, विश्व-प्राण यह वायु घूमती क्यों अलबेली ?
 अंधकार में मंजुल कलियाँ यों जनती अलबेली बेली ?
 अन्धकार में, महा एकरसता यों दौड़ी-दौड़ी फिरती ?
 अंधकार की गोदी में क्यों वृत्तों की हैं मणियाँ भरती ?
 अन्धकार खोदूँ ? कैसे ? इसका प्यारे अस्तित्व अमर है,
 पृष्ठ टूट जाने पर, सुंदर चित्रण के मिटने का डर है,
 अन्धकार है तो 'किरनीलेपन' की भगवानी संभव है,
 अन्धकार है तो क्रीमत का तेरे उज्ज्वल विमल विभव है ।
 अंधकार है तो गरबाँले ! तुझे न नज़र लगा पाऊँगा,
 अन्धकार है तो पद-ध्वनि पर मैं तेरे पीछे आऊँगा ।
 झिड़क नहीं सुंदर, बों कहकर, अंधकार का कठिन हास है !
 श्याम, श्याम तेरा आसन है, किंतु अमर उज्ज्वल प्रकाश है ?



जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसादजी हिन्दी में छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनकी कविता के कई रूप मिलते हैं। वे संक्रान्तिकाल के कवि थे। एक ओर उन्होंने प्राचीनता की प्रतिष्ठा से संयत विद्रोह किया और दूसरी ओर नवीनता के नियंत्रित—मर्यादा-अनुमोदित रूप को अपनाया। प्रसादजी जिस समय हुए उस समय भारतेन्दु-युग समाप्त हो चुका था और द्विवेदी-युग आरम्भ हो रहा था। काव्य के उपकरणों को बदलने—भाषा, भाव, छंद आदि की प्राचीन प्रणाली को छोड़ने और नवीन स्थापनायें करने की ओर लोगों का विशेष ध्यान था। काव्य-भाषा का विवाद-ग्रस्त प्रश्न भी सामने खड़ा था।

प्रसादजी ने अपना काव्य-सृजन ब्रजभाषा से आरंभ किया। पर शीघ्र ही उन्हें उससे असंतोष हो गया और वे खड़ी बोली में लिखने लगे। अपनी ब्रज भाषा की 'माधुरी' को उन्होंने खड़ी बोली में ढाला। द्विवेदीजी के प्रभाव से वे बाहर रहे और छायावाद का नेतृत्व करते रहे। छायावाद की कविता को उन्होंने वह सूक्ष्म विधान दिया जो अभिव्यंजना की व्यापकता को लेकर चला और उसने एक प्रकार से प्रगतिवाद के लिए जमीन तैयार की। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—काव्य में इतिवृत्त-प्रधान प्रणाली के विरुद्ध परिवर्तन का सुसंगत और उचित रूप लेकर प्रसादजी काव्य के क्षेत्र में उतरे। कामल-पद-विन्यास तथा अनूठी लाक्षणिकता उनकी विशेषता है। आन्तरिक वेदना की विवृत्ति और मार्मिक मूर्तिमत्ता उनकी कविता में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। परन्तु लाक्षणिकता के अनूटपन और परंपरा-विमुख कल्पना की उड़ान के कारण इनकी कवितायें दुरूह भी हो गयी हैं। अन्याक्ति-पद्धति का भी उन्होंने यत्र-तत्र अनुसरण किया है।

प्रसादजी की अब तक की प्रकाशित रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—चित्राधार, कानन कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, प्रेम पथिक, झरना, आंसू, लहर और कामायनी। चित्राधार और कानन-कुसुम उनकी प्रारम्भिक रचनाओं के संग्रह हैं। पर ये भी कवि के प्रारम्भिक विकास का बड़ी स्पष्टता के साथ सामने रखती हैं। जीवन की प्रत्येक दशा में ये कवि की अनुभूति को व्यक्त करती हैं। कानन कुसुम की कवितायें बाह्य विषयपरक हैं पर कवि के मन की कोमलता और करुणा उनमें भरी है। करुणालय भाव-नाट्य है जो तुकान्तहीन मात्रिक छंद में लिखा गया है। यह हिन्दी का पहला भाव-नाट्य है। महाराणा का महत्त्व करुणालय के ढंग की रचना है जिसकी भाषा में प्रवाह और भावों में तीव्र गति है। प्रेम पथिक में कवि ने प्रेम की गूढ़ व्याख्या और महत्त्व बताया है। प्रेम में बलिदान और आत्मोत्सर्ग को प्राधान्य देकर इसमें उसका उच्चतम रूप प्रदर्शित किया है। झरना में कवि नयी सृष्टि करने लगता है। आत्म-प्रकाशन के लिए उसने अपनी भावना को उन्मुक्त होकर उड़ने दिया है इसकी कविताओं में नये दृष्टिकोण से खींचे गये प्रकृति के चित्र भी हैं और माननीय भावनाओं का कोमलता-पूर्वक किया गया निरूपण भी।

आंसू में अनुभूति की तीव्रता और नयी उद्भावनायें एक साथ मिलती हैं। डाक्टर इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में—“शुद्ध विप्रलम्भ का यह शकेला काव्य है जिसमें आंसू के माध्यम से कवि ने अपनी वेदना को प्रकट किया है। इसमें प्रेम पथिक की आदर्शमयी प्रेम-व्याख्या नहीं है यहाँ बड़ी गहरी भावना है।” आंसू में स्थान-स्थान पर विराट के कुछ संकेत मिल जाते हैं और कवि ने अपने प्रेमी में प्राकृतिक उपकरणों की विराटता का आरोप किया है। पर इसमें दार्शनिकता या रहस्यवाद ढूँढ़ना ठीक नहीं। यह तो लौकिक प्रेम, विलास और वियोग का शांकाकाव्य है, जिस पर कजा का कुशल आवरण चढ़ा है। आंसू स्मृति-काव्य के रूप में अमर है।

लहर में कवि की प्रौढ़तर स्फुट कवितायें हैं। संगीत और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण इसके गीतों में हुआ है। प्रकृति के अत्यन्त आकर्षक और रमणीय चित्र इसमें उतरे हैं। कामायनी कवि की अंतिम और हिन्दी की श्रेष्ठतम कृतियों में एक है। मुक्तक के छायावादी युग में यह एक प्रबन्ध-नियोजन है। इसमें काव्य-वैभव तो है ही कवि ने आज की त्रस्त और बुद्धिवाद की अधिकता से पीड़ित मानवता को एक सन्देश भी दिया है। मन का ऐसा सरस और वैज्ञानिक निरूपण हिन्दी में अन्यत्र नहीं है। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में यह सबसे मौलिक और विराटतम कल्पना पर आधारित है। कामायनी की कथा के लिए कवि ने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् आदि से सामग्री ली है। १५ सर्गों में यह महाकाव्य समाप्त हुआ है। कवि ने दार्शनिक पृष्ठभूमि को अपने काव्य का आधार बनाया है और शैव-तत्त्व पर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। इसका चित्तवृत्तियों का महाकाव्य भी कहा गया है। कामायनी का कलापल्ल अनूठा है। प्रसाद जी लाघव के साथ किसी बात को सांच ही नहीं सकते। भाषा में एक सौष्ठवपूर्ण गाम्भीर्य और अभिव्यंजना की सांकेतिकता का सौन्दर्य है।

नाटककार, उपन्यासकार और कहानी-लेखक के रूप में भी प्रसादजी अपना स्कूल बना गये हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और वे एक नये जीवन-दर्शन और कला-विज्ञान के प्रवर्तक के रूप में अमर रहेंगे।



आँसू

इस करुणा कलित हृदय में
 क्यों विकल रागिनी बजती
 क्यों हाहाकार स्वरों में
 वेदना असीम गरजती ?
 क्यों व्यथित व्योम-गंगा सी
 छिटका कर दोनों छोरों
 चेतना-तरंगिनी मेरी
 लेती है मृदुल हिलोरें ?
 बस गई एक बस्ती है
 स्मृतियों की इसी हृदय में
 नक्षत्र-लोक फैला है
 जैसे इस नील निलय में ।
 ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
 इस ज्वालामयी जलन के
 कुछ शेष चिह्न हैं केवल
 मेरे उस महा मिलन के ।
 शीतल ज्वाला जलती है
 ईंधन होता दृग-जल का
 यह व्यर्थ साँस चल चल कर
 करती है काम अनिल का ।
 बाढव ज्वाला सोती थी
 इस प्रणय - सिंधु के तल में
 प्यासी मछली सी आँखें
 थीं विकल-रूप के जल में ।
 बुलबुले सिंधु के फूटे

नक्षत्र मालिका टूटी
 नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी
 दिखलाई देती लूटी ।
 जो घनीभूत पीड़ा थी
 मस्तक में स्मृति सी छाई
 दुर्दिन में आँसू बनकर
 वह आज बरसने आई ।
 भंभा, भंकोर, गर्जन था
 बिजनी थी, नीरद माला
 पाकर इस शून्य हृदय में
 सबने आ डेरा डाला ।
 तुम सत्य रहें चिर सुंदर
 मेरे इस मिथ्या जग के
 थे केवल जीवन-संगी
 कल्याण कलित इस भग के ।
 गौरव था, नीचे आये
 प्रियतम मिलने को मेरे
 मैं इठला उठा अकिंचन
 देखे ज्यों स्वप्न सबेरे ।
 मधु राका मुसक्याती थी
 पहले देखा जब तुमको
 परिचित से जाने कब के
 तुम लगे उसी क्षण हमको !
 पतझड़ था, भाड़ खड़े थे
 सुखी सी फुलवारी में

किसलय नव कुसुम बिछाकर
 आये तुम इस क्यारी में !
 शशि-मुख पर घूँघट डाले
 अंचल म दीप छिपाये
 जीवन की गोधूली में
 कौतूहल से तुम आये !
 माना कि रूप-सीमा है
 सुंदर ! तब चिर यौवन - में
 पर समा गये थे, मेरे
 मन के निम्सीम गगन में !
 लावण्य-शैल राई सा
 जिस पर वारी बनिहारी
 उस कमनीयता कला की
 सुषमा थी प्यारी प्यारी ।
 बाँधा था विधु को किसने
 इन काली जंजीरों से
 मणिवाले फणियों का मुख
 क्यों भरा हुआ हीरों से ?
 तिर रही अतृप्ति-जलधि में
 नीलम की नाव निराली
 काला पानी बेला सी
 है अंजन-रेखा काली ।
 अंकित कर क्षितिज-पटी को
 तूलिका बरौनी तेरी
 कितने घायल हृदयों की
 बन जाती चतुर चितेरी ।
 विद्रम सीपी-सम्पुट में

मोती के दाने कैसे ?
 है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
 चुगन का मुक्ता कैसे ?
 मुख-कमल समीप सजे थे
 दो किसलय से पुरइन के
 जल-बिन्दु सदृश टहरे, कब
 उन कानों में दुख किनके ?
 चंचला स्नान कर आवे
 चंद्रिका-पत्र में जैसी
 उस पावन तन की शोभा
 आलोक मधुर थी ऐसी !
 छिप गई कहाँ छूकर वे
 मलयज की मृदुल हिलोरें
 क्यों घूम गई हैं आकर
 करुणा-कटाक्ष की कोरें ।
 हारे सा हृदय हमारा
 कुचला शिरीष कोमल ने
 हिम शीतल प्रणय अनल बन
 अब लगा विरह से जलने ।
 जल उठा स्नेह, दीपक सा,
 नवनीत हृदय था मेरा
 अब शेष-धूम-रेखा से
 चित्रित कर रहा अंधेरा ।
 छायाण्ट छवि-परदे में
 सम्मोहन वेणु बजाता
 संध्या कुहुकिनि अंचल मे
 कौतुक अपना कर जाता ।

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिनखने
थे, उतरे हुए नशे से।
नाविक ! इस सूझे तट पर
किन लहरों में खे लाया
इस बीहड़ बेना में क्या
अब तक था कोई आया ?
अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या
हो भी कुछ कूल - किनारा।
चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ ले उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तां
ग्रह पथ में टकराऊँगा।
निर्मोह काल के काले
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखा पड़ी रह जाती
सुख - दुखमय जीवन रेखा।
दुख सुख में उठता गिरता
संसार तिरोहित होगा।
मुड़ कर न कभी देखंगा
किसका हित अनहित होगा।
मानव - जीवन बेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे

है खेल आँख का मन का।
धरणी दुख माँग रही है
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।
उनका मुख नाच उठा है
यह दुःख-दुःख-दल हिलने से
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।
हो उदासीन दोनों से
दुख मुग्न से मेल करायें
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें।
नचती है नियति नटी सी
कन्दुक-क्रीड़ा सी करती
इस व्यथित विश्व - आग्न में
अपना अतृप्त मन भरती।
वेदना ज्वलन फिर आइ
मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में ?
विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण-जलद की
सुख सोये थका हुआ सा
चिन्ता छुट जाय विपद की।
चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा

सन्ध्या हो स्वर्ग प्रलय की
 विच्छेद मिलन फिर होगा।
 सुख अपमानित करता सा
 जब व्यंग हँसी हँसता है
 चुपके से तब मत रो तू
 यह कैसी परवशता है ?
 चुन चुन ले रे कन-कन से
 जगती की सजग व्यथायें
 रह जायेंगी कहने को
 जन-रञ्जन-करी कथायें।
 निमेष जगती को तेरा
 मंगलमय मिले उजाला
 इस जलते हुए हृदय की
 कल्याणी शीतल ज्वाला ?
 मेरी आहों में जागों
 सुस्मित में सोने वाले
 अधरों में हँसते हँसते
 आँखों से रोने वाले।
 वेदना मधुर हो जावे
 मेरी निर्दय तन्मयता
 मिल जावे आज हृदय को

पाऊँ मैं भी सहृदयता।
 इस छोटी सी सीपी में
 रत्नाकर खेल रहा हो
 करुणा की इन बूँदों में
 आनंद उड़ेल रहा हो।
 तेरा आनिगन कोमल
 मृदु अमर-बेलि सा फैले
 धमनी के इस बंधन में
 जीवन ही न हो अकेले।
 जगती का कलुष अपावन
 तेरी विदग्धता पावे
 फिर निखर उठे निर्मलता
 यह पाप पुण्य हो जावे।
 तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो
 मेरी चिर-जीवन-संगिनि
 दुख वाले दग्ध हृदय की
 वेदने ! अश्रुमय रंगिनि !
 सबका निचाड़ लेकर तुम
 सुख से सूखे जीवन में
 बरसो प्रभात हिमकन सा
 आँसू इस विश्व सदन में।

कामायनी का विरह

“जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनि, कुछ बोलोगी ?
 नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद है गिन दोगी ?
 प्रतिबिम्बित है तारा तुम में, सिन्धु - मिलन को जाती हो,
 या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी !

इस आकाश-पटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते हैं,
 उनमें कितने रंग भरे, जो सुर-धनु-पट में छनते हैं,
 किन्तु सकल अणु पल में धुलकर व्यापक नील शून्यता-सा,
 जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।
 दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ।
 कितना स्नेह जलाकर जलता, ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
 बुझ न जाय वह साँझ किरण-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
 शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !
 आज सुनो केवल चुप होकर, काँकिल जो चाहे कह ले,
 पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले।
 इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
 कामायिनि, तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले !
 विरह डालियों के निकुंज सब ले दुख के निःश्वास रहे,
 उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन-कथा फिर कौन कहे ?
 आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
 किन चरणों को धोएँगे जो अश्रु पलक के पार बहें !
 अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ !
 जब निःसंवल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ।
 वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
 छिपा कही तब कैसे सुलभें उलझी सुख-दुख की लड़ियाँ !
 विस्मृत हों वे बीती बातें अब जिनम कुछ सार नहीं ;
 वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं ;
 सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा मधु अभिलाषाएँ ,
 प्रिय को निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं !
 वे आलिंगन एक पास थे. स्मित चपला थी, आज कहाँ ?
 और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा ?

वंचित जीवन बना समर्पण वह अभिमान अकिंचन का,
 कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा ।
 विनिमय प्राणों का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे,
 देना हो कितना दे-दे तू लेना ! कोई यह न करे ;
 परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती ;
 संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे !
 वे कुछ दिन जो हँसते आए अतिरिक्त अरुणाचल से ;
 फूलों की भरमार, स्वरों का कूजन लिए कुहुक बल से ।
 फँस गई जब स्मिति की माया किरन काल की क्रीड़ा से ,
 चिर प्रवाह में चले गए वे आने को कहकर छल के !
 अब शिरीष की मधुर गंध से मान-भरी मधु-ऋतु गतें ;
 रुठ चली जाती रक्तिम मुख, न सह जागरण की धातें ;
 दिवस मधुर आलाप कथा-सा कहता छा जाता नभ में ,
 वे जगते सने अपने सिर तारा बनकर मुसकाते ।
 वन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेगु के मधु स्वर से ,
 लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार आने घर से ;
 किन्तु न आया वह परदेशी, युग छिप गया प्रतीक्षा से ;
 रजनी की भोगी पलकों से तुहिन-बिंदु कण-कण बरसे !
 मानस का स्मृति-शतदल खिलता, भरते बिंदु-मरन्द घने ,
 मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने !
 आँसू सरस तरल विद्युत्कण नयनालोक विरह-तम से ;
 प्राण-पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने ।
 अरुण जलज के शोण-कोण थे नव तुषार के बिंदु भरे ,
 मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिये बिखरे ,
 वह अनुराग हँसा दुलार की पंक्ति चली साने तम में ,
 वर्षा विरह कुहू में जलते स्मित के जुगनू डरे-डरे ।

सूने गिरि-पथ में गुंजारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
 आकांक्षा-तहरी दुख-तटिनी-पुलिन अंक में थी ढलती।
 जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
 भरा रह गया आँखों में जल, बुझी न वह ज्वाला जलती।
 'मा!—फिर एक क्लिप्त दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
 मा उठ दौड़ी भर हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
 लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहेँ आकर लिपट गई,
 निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

"कहाँ रहा नटखट! तू फिरना अब तक मेरा भाग्य बना!
 अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख-दुख तो दिया घना!
 चंचल तू, वनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
 मैं डरती तू रूठ न जाये, करती कैसे तुझे मना!"

"मैं रूठूँ मा और मना तू किननी अच्छी बात कही।
 ले मैं सोता हूँ अब जाकर बोलूँगा मैं आज नहीं;
 पके फलों से पेट भरा है, नाद नहीं खुलनेवाली,
 श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।
 जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके;
 मुक्त उदास गहन के उर में छाले बनकर जो झलके।
 दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं;
 करुण वही स्वर फिर उस संसृति में वह जाता है गल के।
 प्रणय-किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
 दूर किन्तु कितना प्रतिपन्न वह हृदय समीप हुआ जाता।
 मधुर चाँदनी-सी तंद्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर;
 तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता!
 कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना-सा देख रही;
 युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;

जा कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा के पुकार—सी नभ में खिचती रेख रही।

गीत

(१)

आँखों में अलख जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।

ऊपा-सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है।

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज-भरी चितवन।

है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की आँगड़ाई है।

लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
सागर का उद्वेलित अंचल।

है पोंछ रहा आँखें छलछल,
किसने यह चोट लगाई है?

(२)

बीती विभावरी जागरी !

अम्बर-पनघट में डुबा रही—तारा-घट उषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा,
तो यह लतिका भी भर लाइ—मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये, अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली ! आँखों में भरे विहागरी !

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निरालाजी हिन्दी के युग-प्रवर्तक कलाकार हैं। उनकी सृष्टि बहुमुखी और विभिन्न जीवनानुभवों और सामाजिक अनुभूतियों से परिपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी रचनाओं में विशेष आग्रह है। जिन नवीन प्रेरणाओं से बंग-साहित्य का निर्माण हो रहा था, उन्हीं को लेकर निराला ने हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया। हिन्दी-जगत को एक अभिनव जागरण का आभास मिला। निरालाजी ने काव्य को संगीत के और संगीत को काव्य के निकट लाने की बड़ी सफल चेष्टा की है। उनके व्यक्तित्व में अद्वैतवादी बुद्धितत्त्व की प्रधानता है। उनकी अनेक रचनायें सूक्ष्म दार्शनिक विचारों से आत-प्रात हैं। उनके सिद्धान्तों पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है। निराला उनके वैदिकान्तिक विचारों के साहित्यिक प्रतिनिधि हैं।

निराला की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उनकी विद्रोह-भावना है। दर्शन का आधिक्य उनकी चिंतन और आवेग-प्रणाली में होने के कारण उनका विद्रोह संयत हो गया है, यद्यपि स्वर की प्रखरता कम नहीं हो पायी है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में ही निरालाजी का पौरुषमय स्वच्छन्द व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। निरालाजी की कविता में जड़त्व का अंकुश कहीं नहीं मिलता। दार्शनिक होने के कारण कवि तटस्थता से ही करुणा या शृंगार का चित्रण करता है। उनमें बुद्धितत्त्व इतना प्रधान है कि उनका कल्पनातत्त्व और रागात्मक तत्त्व उस पर हावी नहीं हो पाते हैं। कलाकार जनांचित संयम और दार्शनिकांचित नियंत्रण उनमें बराबर बना रहता है। संगीत की एक मनोहर अन्तर्धारा उनके काव्य के भीतर बहती है। आचार्य नन्ददुलारे के शब्दों में— “कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न अथवा अस्खलित व्यक्तित्व निराला का है

उतना न प्रसादजी का न पन्तजी का ।'

निरालाजी की सबसे बड़ी देन है बुद्धित्व, जिसके प्रभाव से हिन्दी-कविता में चिंतन और जीवन-दर्शन का स्तर ऊँचा हुआ है। ब्रह्म के प्रति निवेदन में स्त्रीत्व को उन्होंने कहीं नहीं अपनाया। अपनाया भी है तो बहुत कम। उपनिषदों में भी चिंतन का यही क्रम है और आत्मा-परमात्मा का अंश होने के कारण पुल्लिंग रूप में ही वर्णित है। भारतीय संस्कृति की परंपरा के दार्शनिक चिंतन में यही क्रम आना स्वाभाविक होगा। निरालाजी के दार्शनिक रहस्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण 'तुम और मैं' कविता में मिलता है। प्रकृति और मानव—हृदय की भावनाओं को लेकर ब्रह्म और जीव परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता का कलापूर्ण चित्रण इस कविता में है। समूची कविता में रूपकों का कलात्मक गुम्फन है।

दार्शनिक अनुभूति की भाँति निरालाजी की सामाजिक अनुभूति भी अत्यन्त तीव्र है। उनमें करुणा का बड़ा प्रखर स्वर है। लगता है कवि दर्शन को जन-जन का कल्याण-विधायक बनाने के पक्ष में है और राष्ट्रीयता के आधार पर उसकी व्याख्या करता है। विधवा, भिक्षुक, दीन, वह तोड़ती पत्थर, मां मुझे वहाँ तू ले चल आदि उनकी अनेक कविताओं में उनकी करुणा-कलित वाणी की छटा है। प्रगति की यह वास्तविक करुणा कवि के साथ निरन्तर रही है और उन्हें अधिकांश प्रगतिशील कवियों से पृथक् करती है। यही करुणा उनसे सामाजिक यथार्थों की तीव्र आलोचना कराती है और समाज की दयनीय दशा और पतन की ओर बड़े स्पष्ट संकेत भी कवि करता है। आगे चल कर उनकी सामाजिक वस्तु को लेकर चलने वाली कविताओं में व्यङ्ग की प्रधानता हो गयी है। यह व्यङ्ग बड़ा पैना और निर्विकार है—अनासक्ति को लेकर चलता है।

निरालाजी के गीतों में सौन्दर्य के सजीव चित्र हैं और प्रकृति का मानवीकरण अत्यन्त सुन्दर हुआ है। कवि की निरीक्षण-शक्ति और अनुभूति दोनों का कायल होना पड़ता है। कल्पना की ऊँची उड़ान और रूपों की व्यवस्था और छटा देखते बनती है। कवि के कलाकार की पूर्णता इनमें भली प्रकार देखने को मिलती है। निरालाजी का भाषा पर अधिकार है और उनका शब्द-चयन बड़ी कुशलता का होता है। अतीत-प्रेम के लिए उनकी यमुना, महाराज शिवाजी का पत्र, पंचवटी-प्रसंग, राम की शक्ति-पूजा, सहस्राब्दि आदि कवितायें उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं में कवि ने प्राचीन वैभव और गौरव का विस्तृत वर्णन किया है। निरालाजी की कला का उत्कर्ष तुलसीदास नामक ग्रन्थ में भी दर्शनीय है। उनकी भाषा और शैली का यह अन्यतम नमूना है। इसमें उनकी संस्कृत-गर्भित और सामासिक पद-युक्त भाषा का सुन्दर रूप प्रदर्शित है।

निरालाजी की सबसे बड़ी एक और देन हिन्दी-कविता को मुक्त छंद के रूप में मिली है। उनका मुक्त छंद प्रवाह और नियमों से बंधकर चलता है। छन्दों की क्रान्ति में संगीत ने उनकी बड़ी सहायता की है। उर्दू के ढंग पर गजलों भी कवि ने लिखी हैं, जिनमें हिन्दी-उर्दू का स्वाभाविक मेल है। प्रवाह और कारीगरी की दृष्टि से ये रचाये सफल हैं। उनकी कविताओं को पांच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है— (१) दार्शनिकता प्रधान रचनायें (२) विशुद्ध प्रगति (३) आलंकारिता प्रधान और उदात्त, (४) प्रगतिशील रचनायें और व्यङ्ग्य (५) हास्य सम्बन्धी रचनायें। आज के साथ एक सुकौमल सौहार्द का समाहार उनकी कविता में है। उनके प्रकृति-वर्णन में भी विविधता है। उनकी छन्द-योजना आचार्य-वपूर्ण है। आलंकारयोजना और रस-योजना में वे पूर्ण रूप से सफल हैं। हिन्दी-कविता की बाग्रकला और अन्तरस्थ दोनों में स्वतन्त्रता के सूत्रधार के रूप में वे स्मरण किये जायेंगे।

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चचलगति सुर-सरिता ।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कांतकामिनी कविता ॥

तुम प्रेम—और मैं शान्ति ।

तुम सुरापान - घन अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति ॥
तुम दिनकर के खर-किरण जाल मैं सरसिज की मुमकान ।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान ॥

तुम योग—और मैं सिद्धि ।

तुम हो रागानुग निश्छल तप; मैं शुचिता सरल समृद्धि ॥
तुम मृदु मानस के भाव; और मैं मनोरंजनी भाषा ।
तुम नन्दन-वन घन-विटप, और मैं सुख-शीतल तरु शाखा ॥

तुम प्राण—और मैं काया ।

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया ॥
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल - नागिनी ।
तुम कर-पल्लव-भङ्गुन सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी ॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु ।

तुम हो राधा के मन-मोहन, मैं उन अधरों की वेणु ॥
तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा ।
तुम भव-सागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा ॥

तुम नभ हो, मैं नीलिमा ।

तुम शरद - सुधाकर कला - हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा ॥
तुम गंध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर ।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति - प्रेम जंजीर ॥

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति ।

तुम रघुकुञ्ज-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति ॥
 तुम आशा के मधुमास, ओर मैं पिक-कल-कूजन तान ।
 तुम मदन पंचशर - हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान ॥
 तुम अम्बर, मैं दिग्वसना !

तुम चित्रकार घन पटल-श्याम, मैं तड़ित्तूलिका रचना ॥
 तुम रण-ताण्डव उन्माद-नृत्य मैं मुखर मधुर-नूपुर-ध्वनि ।
 तुम नाद-वेद-ओंकार-सार, मैं कवि शृङ्गार-शिरोमणि ॥
 तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति ।

तुम कुन्द-इन्दु अरविन्द शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ॥

उद्बोधन

गरज गरज घन अंधकार में गा अपने संगीत ,
 बन्धु, वे बाधा बन्ध-विहीन
 आँखों में नव जीवन की तू अंजन लगा पुनीत ,
 बिखर भर जाने दे प्रार्थन ।

बार बार उर की वीणा में कर निष्ठुर भंकार
 उठा तू भैरव निर्जर राग ,
 बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
 सञ्चरित कर नूतन अनुगम ।

बहता अन्ध प्रभञ्जन ज्यों वह त्योंही स्वर-प्रवाह
 मचल करदे अञ्जल आकाश
 उड़ा उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुक्रीमल राह,
 तरुण तरु; भर प्रसून की प्यास ।

काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल ,
 सुगंधित हो; रे फिर आकाश ,

पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
 चतुर्दिक छा जाये विश्वास ।
 मन्द्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान ,
 विश्व की नश्वरता कर नष्ट ,
 जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान ,
 रहे अवशिष्ट सत्य तो स्पष्ट ।
 ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट
 खोल दे कर कर-कठिन प्रहार ,
 आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट ,
 करे दर्शन, पाये आभार !
 छोड़, छोड़ दे शंकाएँ, रे निर्भर गर्जित वीर !
 उठा केवल निर्मल निर्घोष ;
 देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर ;
 प्राप्त कर फिर नीरव संतोष ।
 भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण ,
 दूर कर दे दुर्बल विश्वास ,
 किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान
 एक कर दे पृथ्वी-आकाश ।

सन्ध्या सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
 मेघमय आसमान से उतर रही है
 वह संध्या सुन्दरी परी-सी
 धीरे-धीरे-धीरे
 तिमरांचल में चचलता का नहीं कहीं आभास,

मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है हास-विलास;
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभियेक ।

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली—
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली ।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनु-भुनु रुनु-भुनु रुनु-भुनु नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप'

है गूँज रहा सब कहीं—

व्योम-मण्डल में—जगती-तल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमर कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य गर्विता के अति विस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप'

और क्या है ? कुछ नहीं

मदिरा की वह नदी बहाती आती
थके हुए जीवों को वह सस्नेह, प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखाती फिर विस्मृति के कितने मीठे सपने !
और जब अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती वह लीन,

कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहातुर कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता है एक विहाग ।

जागरण-वीणा

जागो फिर एक बार !

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार—

जागो फिर एक बार !

आँखें अलियों की किस मधु की गलियों में फँसी—
बन्द कर पाँखें, पी रही हैं मधु मौन,
अथवा सोई कमल-कोरकों में ?—
बन्द हो रहा गुझार !

जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि विभावरी में चित्रित हुई हैं देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर, दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से;
शिशिर-मार व्याकुल कुल खुले फूल झुके हुए
आया कलियों में मधुर मद-उर यौवन-उभार—

जागो फिर एक बार !

पिउ-रव पहीदे प्रिय बोल रहे,
सेज पर, विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें—

रातें मन-मिलन की,
मूँद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—

जागो फिर एक बार !

सहृदय समीर जैसे पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल बाहें भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो,
छूट-छूट अन्नस फल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल ऋजु-कुटिल प्रसार का भी केश-गुच्छ,
तन-मन थक जायें
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन.
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में
कब से मैं रही पुकार—

जागो फिर एक बार !

उगे अरुणाचल मैं रवि
आई भारती रति कवि-कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
मैंदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन पक्ष-मास,
वर्ष कितने हजार ।

वासन्ती

अति ही मृदु गति ऋतुपति की, प्रिय डालों पर, प्रिय, आओ,
 पिक के पावन पञ्चम में, गाओ, वन्दन-ध्वनि गाओ !
 प्रिय, नील-गगन-सागरतिर, चिर, काट तिभिर के बन्धन,
 उतरो जग में, उतरो फिर, भर दो, पग-पग नव स्पन्दन !
 सिहरें द्रुम-दल, नव पल्लव, फूटें डालों पर कोमल,
 लहरे मलयानिल, कलरव भर लहरों में मृदु-चञ्चल !
 मुद्रित-नयना कलिकाएँ फिर खोल नयन निज हेरें,
 पर मार प्रेम के आएँ, अलि, बालाएँ मुँह फेरें !
 फागुन का फाग मचे फिर, गावें अलि गुञ्जन-होली,
 हँसती नव हास रहें घिर, बालाएँ डालें रोली !

मञ्जरियों के मुकुटों में,

नव नीलम आम-दलों के, जोड़ो मञ्जुल घड़ियों में,
 ऋतुपति को पहनाने को झुक डालों की लड़ियों में ।
 आयि, पल्लव के पलनों पर पालो कोमल तन पालो,
 आलोक-नग्न पलकों पर प्रिय की छाँव खींच उठा लो ।
 भर रेणु रेणु मे नभ की, फैला दो जग की आशा,
 खुल जाय खिली कलियों में नव-नव जीवन की भाषा ।
 प्रिय, केशर के रञ्जन की मसि से पत्रों पर लिख दो—
 “जग, है लिपि यह नूतन की सिख लो, तुम भी कुछ सिख लो !
 “अति गहन विपिन मे जैसे गिरि के तट काट रही हैं,
 नव-जल धाराएँ, वैसे भाषाएँ सतत बही हैं ।”
 फिर वर्ष सहस्र पथों से, आया हँसता-मुख आया,
 ऋतुओं के बदल रथों से, लाया तुमको हर लाया !
 हाँ, मेरे नभ की तारा रहना, प्रिय, प्रति निशि रहना,
 मेरे पथ की ध्रुव धारा कहना इज्जित से कहना !

मैं और न कुछ देखूँगा, इस जग से मौन रहूँगा,
 बस नयनों की किरणों में, लख लूँगा, कुछ लख लूँगा !
 नव किरणों के तारों से जग की यह वीणा बाँधो,
 प्रिय, व्याकुल भङ्गारों से, साधो, अपनी गत साधो !
 फिर उर उर के पथ बन्धुर, पग-द्रवित मसृण ऋजु कर दो !
 खर नवयुग की कर-धारा भर दो द्रुतजग में, भर दो !
 फिर नवल कमल-वन फूलें, फिर नयन वहाँ पथ भूलें,
 फिर भूलें नव वृन्तों पर अनुकूलें अलि अनुकूलें ।

नयन

मद-भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं ;
 अल्प-जल में या विकल लघु मीन हैं ?
 या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी ;
 बीत जाने पर हुए ये दीन हैं ?
 या पथिक से लोल - लोचन ! कह रहे ;
 "हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे ।
 गिन रहे दिन ग्रीष्म-वर्षा-शीत के ;
 काल - ताल - तरङ्ग में हम वह रहे ।
 मौन हैं, पर पतन में—उत्थान में ;
 वेगु - वर - वादन - निरत - विभु - गान में ।
 है छिपा जो मर्म उसका, समझने ;
 किन्तु फिर भी हैं उसी के ध्यान में ।
 आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके ;
 हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके ।
 तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में ;
 दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके ।

क्यों हमारे ही लिये वे मौन हैं ?
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं ?”

तरङ्गों के प्रति

किस अनन्त का नीला अञ्चल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकर ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में, अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल ।
चञ्चल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?
तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,
आपस में ही करती हो परिहास,
हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,
कभी दिखाती जगतीतल को त्रास,
गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन-भङ्ग उच्छ्वास,
छाया-शीतल तट-तल में आ तकती कभी उदास,
क्यों तुम भाव बदलती हो—
हँसती हो, कर मलती हो ?
बाँहें अगणित बढ़ा जा रहीं हृदय खोलकर,
किसके आलिङ्गन का है यह साज ?
भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनन्दन होगा आज ?
किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान,
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षस्थल में अवसान ?

आज जहाँ छिप जाओगी,
 फिर न हाथ तुम गाओगी !
 बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
 दग्ध चिता के कितने हाड़ाकार !
 नश्वस्ता की—थीं सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
 अबलाओं की कितनी करुण पुकार !
 मिलन-मुखर तट की रागिनियों का निर्भय गुञ्जार,
 शङ्काकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का सञ्चार,
 उस असीम में ले जाओ,
 मुझे न कुछ तुम दे जाओ !

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्तजी सौन्दर्य और सुकुमारता के कवि हैं। सौन्दर्य की बड़ी व्यापक और तत्त्वनिष्ठ उपासना आपकी कविताओं में मिलती है। कलावाद और सौन्दर्यवाद के वे प्रतिनिधि कवि हैं। खड़ी बोली को सरसता की उच्चतम सीमा तक पहुँचा कर उसे काव्योचित भाषा बनाने का सबसे बड़ा श्रेय उन्हीं का है। खड़ी बोली के नीरस कलेवर में उन्होंने रस का संचार किया। संगीत ने उनकी कविता को मर्म-व्यंजकता प्रदान की है। यह उनकी शैली की विशेषता है। इसके अतिरिक्त चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत विधान की विशेषतायें उनकी कविता में प्रचुर परिणाम में मिलती हैं। कल्पना की रमणीयता एक प्रकार से उनके काव्य के आकर्षण का प्रमुख रहस्य है। उनकी कल्पना-शक्ति को उनकी सौन्दर्यानुभूति ने पर्याप्त बल प्रदान किया है। पन्त में इन काव्य-गुणों के साथ-साथ स्वतन्त्र चिंतन की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

पन्तजी की अपनी विचार-धारा और भावों की अपनी सूझ है। उनकी कुछ कविताओं में ईश्वर-सम्बन्धी विचार हैं। कुछ में जीव और प्रकृति-सम्बन्धी हैं। जीवन और जगत, जीवन और मृत्यु पर भी उन्होंने अपनी मान्यतायें प्रदान की हैं। मानव के सुख-दुख सम्बन्धी विचारों से उनकी गुञ्जन की कवितायें भरी पड़ी हैं। कवि के मुक्ति सम्बन्धी विचार भी अपने हैं। वे कर्म में विश्वास करने हैं। वैराग्य में उनकी आस्था नहीं है। वे आस्तिक और आदर्शवादी हैं। आत्म-साधना में उनका विश्वास है। उनके अपने सामाजिक आदर्श हैं। पन्त की विचार-धारा में एक विकास-सूत्र है। उसमें उनके दर्शन का भी यथार्थ परिचय मिलता है। उनके विचार सभी समस्याओं पर अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट हैं।

उनके जीवन-दर्शन में समन्वयवाद है। विकसित व्यक्ति व के साथ-साथ विकसित समाजवाद को भी उन्होंने अपनाया है। मनुष्य के सूक्ष्मतम राग-तत्त्व का वे संस्कार करना चाहते हैं। सौन्दर्य की खोज के साथ-साथ यह सब चलता है।

अपने काव्य-जीवन के प्रारम्भ में पन्तजी सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं। 'वीणा' में प्रकृति के सुन्दर रूपों की आह्लादमयी अनुभूतियों का चित्रण है। बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता एवं कोमलता के अच्छे चित्र इसमें उतरे हैं। 'ग्रंथि' में एक छोटे-से प्रेम-प्रसंग का आकार लेकर कवि ने प्रेमानुभूति की परिणति विषाद में दिखायी है। 'पल्लव' कवि की तीसरी काव्य-कृति और प्रथम प्रौढ़ रचना है, जिसने प्रकाशित होते ही समस्त हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित कर लिया और कवि की ख्याति चारों ओर छा गयी। इसमें स्वछंदतावादी जीवानुभूतियों और मनस्थितियों के बड़े रमणीय वर्णन हैं। 'पल्लव' की कविताओं को आज भी कुछ आलोचक पन्त की सर्वोत्तम कवितायें मानते हैं और कल्पना के उन रुचिर रूपों के प्रशंसक हैं।

पल्लव तक पन्तजी की कविता में सौन्दर्य और स्वच्छन्द प्रेम की ही प्रवृत्ति मुख्य रूप से लक्षित होती है। 'गुंजन' में वे आगे बढ़ कर लोक-जीवन के प्रश्नों को भी लेने हैं। वे भावुक न रह कर चिंतक बन जाते हैं। प्राकृतिक सुषमा का बहुत कुछ स्थान अंतर्दर्शन की जिज्ञासा ले लेती है। कवि विश्वास और आस्था की ज्योति जगाता है। सृष्टि के लीलात्मय जीवन के प्रति उनके भीतर एक हृदयमयी अनुरक्ति पायी जाती है। युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या तक आते-आते पन्तजी पूर्ण रूप से जीवन के कवि बन जाते हैं। सौंदर्य-भावना व्यापक होकर मंगल-भावना बन जाती है। युगान्त में तो कवि ने अपना हृदय बिलकुल खुले जगत के बीच रख दिया है। इस प्रकार सौंदर्यानुभूति, प्रेमानुभूति, रहस्यानुभूति, जीवन-दर्शन का आलोक, सामाजिक आदर्श, ग्राम्य

जीवन के स्वाभाविक और तटस्थता पूर्ण चित्र उनकी कविताओं में मिलते हैं। उनका गीत-काव्य भी अत्यंत उत्कृष्ट है। भाषा और भाव की दृष्टि से उनके गीत बेजोड़ हैं।

यह भी एक महत्व की बात है कि हिन्दी का यह प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि, जिसने अपनी रचनाओं में प्रकृति, जीवन, भाव, भाषा, जगत और जन-जगत के सौन्दर्य का उद्घाटन किया, प्रगतिवाद के प्रवर्तक के रूप में भी सामने आता है। समाज की—राष्ट्र की वास्तविकता उसे इतना अधिक प्रभावित करती है कि वह देश और वर्तमान संसार की दुर्दशा से व्याकुल हो जाता है। वर्तमान का चित्रण करते हुए वह भावी संस्कृति की रूप-रेखा गढ़ने का यत्न करता है। किसान और मजदूर वर्ग के प्रति उसके हृदय में बौद्धिक सहानुभूति जाग्रत होती है। युगवाणी में कवि समाजवादी सिद्धान्तों का विवेचन करता है और ग्राम्या में उन सिद्धान्तों का प्रयोग। कला की दृष्टि से ग्राम्या युगवाणी से अधिक सुन्दर है। कवि को गांधीवाद का अध्यात्म-दर्शन और समाजवाद की अर्थयोजना दोनों अच्छी लगती हैं और वह उनका समन्वय ढूँढ़ता है। प्रगतिवाद के युग का नेतृत्व भी कवि ने किया है।

पन्त की जैसी चित्रण-शक्ति बहुत कम कवियों को प्राप्त है। सूक्ष्म से सूक्ष्म या गतिवान से गतिवान भाव या दृश्य वे बड़ी सहजता से चित्रित कर देते हैं। ध्वनि-चित्रण उनकी विशेषता है। वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि अर्थ शब्द की ध्वनि से ही प्रकट हो जाता है। उनका रंगों का ज्ञान और अवसरानुकूल हल्का-गहरा प्रयोग उनके चित्रों को प्रभावपूर्ण बनाता है। वे कलाकार और कवि के मणि-कांचन योग हैं। उनकी इधर की कविताओं पर अरविन्द के दर्शन का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और आध्यात्मिकता के अभिनव प्रयोग वे अपने काव्य में कर रहे हैं।

बादल

सुरपति के हमही हैं अनुचर,
 जगत्प्राण के भी सहचर,
 मेघदूत की सजल कल्पना
 चातक के चिर-जीवनधर;
 मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
 सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
 विहग-वर्ग के गर्भ-विधायक,
 कृषक-बालिका के जलधर।
 जलाशयों में कमल-दलों सा
 हमें खिन्नाता नित दिनकर,
 पर बालक-सा वायु सकल-दल
 बिखरा देता, चुन सत्वर;
 लघु-लहरों के चल पलनों में
 हमें झुलाता जब सागर,
 वही चील-सा झपट बाँह गह,
 हमको ले जाता ऊपर।
 भूमि-गर्भ में छिप विहङ्ग-से,
 फैला कोमल, रोमिल-पङ्क,
 हम असंख्य अस्फुट-बीजों में
 लेते सौंस, छुड़ा जड़-पङ्क;
 विपुल-कल्पना-से त्रिभुवन की
 विविध-रूप धर भर नभ-अङ्क;
 हम फिर क्रीड़ा-कौतुक करते,
 छा अनन्त-उर में निःशङ्क।

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
 भू पर चरण नहीं धरते;
 मत्त-मतङ्गज कभी भूमते;
 सजग-शशक नभ को करते;
 कभी कीश-से अनिल-डाल में
 नीरवता से मुँह भरते;
 वृहत-गृद्ध-से विहग-छदों को
 बिखराते नभ में तरते;
 कभी अचानक, भूतों का-सा
 प्रगटा विकट महा-आकार;
 कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
 थर्रा उठता है संसार;
 फिर परियों के बच्चों-से हम
 सुभग सीप के पङ्ख पसार;
 समुद्र पैरते शुचि-ज्योत्स्ना में
 पकड़ इन्दु के कर-सुकुमार ।
 अनिल-विलोडित गगन-सिन्धु में
 प्रलय-बाढ़-से चारों ओर
 उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
 बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
 बात बात में, तूल तोम सा
 व्योम-बिष्टप से झटक झकोर ।
 हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
 दल-बल-युत घुस बातुल-चोर ।
 बुद्ध बुद्ध-द्युति तारक-दल-तरलित
 तम के यमुना-जल में श्याम ।

हम विशाल जम्बाल-जाल-से
 कहते हैं अमूल, अविराम
 दमयन्ती - सी कुमुद-कला के
 रजत-करोँ में फिर अभिराम
 स्वर्ण-हंस-से हम मृदु-ध्वनि कर,
 कहते प्रिय सन्देश ललाम ।
 दुहरा विशुद्धाम चढ़ा द्रुत,
 इन्द्र-धनुष की कर टङ्कार ;
 विकट पटह से निर्घोषित हो,
 बरसा विशिखों-सा आसार ;
 चूर्ण चूर्ण कर बज्रायुध से
 भूधर को, अति भीमाकार
 मदनमक्ष बासव-सेना-से
 करते हम नित वायु-विहार ।
 स्वर्ण-भृङ्ग-तारावलि वेष्टित,
 गुञ्जित, पुञ्जित, तरल, रसाल,
 मधु गृह से हम गगन-पटल में
 लटके रहते विपुल-विशाल ;
 जालिक-सा आ अनिल, हमारा
 नील-सलिल में फैला जाल,
 उन्हें फाँस लेता फिर सहसा
 मीनों के - से चञ्चल बाल ।
 व्योम-विपिन में जब बसन्त सा
 खिलता नव-पल्लवित प्रभात,
 बहते हम तब अनिल स्रोत में
 गिर तमाल-तम के-से पात ;

उदवाचल से बाल-हंस फिर
 उड़ता अम्बर में अवदात
 फैल स्वर्ण-पङ्क्तों से हम भी
 करते द्रुत मारुत से बात ।
 सन्ध्या का मादक-पराग पी
 भूम मलिनदों-से अभिराम
 नभ के नील-कमल में निर्भय
 करते हम विमुग्ध विश्राम !
 फिर बाडव-से सान्ध्य-सिन्धु में
 सुनग, सोख उसको अविराम ,
 बिखरा देते तारावलि-से
 नभ में उसके रत्न निकाम ।
 धीरे धीरे संशय-से उठ ,
 बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर ,
 नभ के उर में उमड़ मोह-से
 फैल लालसा-से निशि-भोर ;
 इन्द्रचाप-ही व्योम-भकुटि पर
 लटक मौन-चिन्ता-से घोर ,
 घोष भरे विप्लव-भय-से हम
 छा जाते द्रुत चारों ओर ।
 पर्वत से लघु-धूलि, धूलि से
 पर्वत बन, पल में, साकार
 काल-चक्र-से चढ़ते, गिरते ,
 पल में जलधर, फिर जलधार ;
 कभी हवा में महल बनाकर ,
 सेतु बाँध कर कभी अपार ,

हम विलीन हो जाते सहसा
 विभव-भूति ही-से निस्सार ;
 नग्न गगन की शाखाओं में
 फैला मकड़ी का-सा जाल !
 अम्बर के उड़ते पतङ्ग को
 उलझा लेते हम तत्काल ।
 फिर अनन्त-र की करुणा-से
 त्वरित द्रवित हो कर उत्ताल--
 आतप में मूर्छित कलियों को
 जाग्रत करके हिम-जल ढाल ।
 हम सागर के धवल हास हैं,
 जल के धूम, गगन की धूल,
 अनिल-फेन, उषा के पल्लव,
 वारि-वसन, वसुधा के मूल ;
 नभ में अरुणि, अरुणि में अम्बर,
 सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
 हम ही जल में थल, थल में जल,
 दिन के तम पावक के तूल,
 व्योम-बेलि, ताराओं की गति,
 चलते-अचल, गगन के गान ;
 हम अपलक-तारों की निद्रा,
 ज्योत्सना के हिम, शशि के यान ;
 पवन-धेनु, रवि के पांशुल-श्रम,
 सलिल-अनल के विरल-वितान,
 व्योम-पलक, जल-खग, बहते थल,
 अम्बुधि की कल्पना महान ।

धूम-धुँआरे, काजर-कारे,
 हम ही बिकरारे बादर,
 मदन राज के बीर बहादुर,
 पावस के उड़ते फणिधर।
 चमक भ्रमकमय मंत्र वशीकर,
 छहर-घहर मय विष - सीकर
 स्वर्ग - सेतु - से—इन्द्र - धनुष-धर
 काम रूप घनश्याम अमर!

भारत माता

भारत माता

ग्रामवासिनी।

खेतों में फैला है श्यामल
 धूल भरा मैला सा आँचल,
 गंगा यमुना में आँसू जल,
 मिट्टी की प्रतिमा
 उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलकनत चितवन
 अधरों में चिर नीरव रोदन,
 युग युग के तमसे विषण्ण मन,
 वह अपने घर में
 प्रवासिनी।

तीस कोटि संतान नग्न तन,
 अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन,
 मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
 नत मस्तक
 तरु-तल निवासिनी।

स्वर्ण शस्य पर - पद तल लुंठित,
 धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
 क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
 राहु प्रसित
 शरदेन्दु हासिनी ।

चिन्तित भ्रुकुटि क्षितिज तिमरांकित,
 नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
 आनन श्री छाया - शशि उपमित,
 ज्ञान मृदु
 गीता प्रकाशिनी ।

सफल आज उसका तप संयम,
 पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
 हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
 जग जननी
 जीवन विकासिनी ।

वाणी

तुम वहन कर सको जन-मल में मेरे विचार,
 वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !
 भव-कर्म आज युग की स्थितियों से हैं पीड़ित,
 जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,
 तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
 कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
 वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

चित् शून्य,—आज जग, नव निनाद से हो गुंजित,
 मत जड़,—उसमें नव स्थितियों के गुण हों जागृत,

तुम जड़ चेतन को सीमाओं के आर पार,
भङ्गुत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,

ज्योतिष कर जन-मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव घर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

एक तारा

नीरव संध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त ।

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।

खग कूजन भी हो रहा लीन, निजेन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्व चीण ।

मौगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
संध्या प्रशान्ति को कर गँभीर ।

इस महाशान्ति का घर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार-
ज्यों बेध रही हो आर-पार ।

अब हुआ सान्ध्य-स्वणोभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन ।

गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदु दल ।

लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर ।

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग !

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल ।

पश्चिम - नभ में हूँ रहा देख,

उज्ज्वल अमंद नक्षत्र एक ।

अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक ।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए ? किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप ।

क्या उसकी आत्मा का चिरधन, स्थिर अपलक नयनों का चिन्तन ?
क्या खोज रहा वह अपनापन ?

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग,

मानता नहीं बंधन विवेक ।

चिर आकांक्षा से ही थर-थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर ।

अविरत-इच्छा ही में नर्तन, करने अबाध रवि, शशि, उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बंधन ।

रे उडु, क्या जलते प्राण विकल, क्यों नीरव नीरव नयन सजल
जीवन निसंग रे व्यर्थ, विफल ।

एकाकीपन का अंधकार, दुःसह है इसका मूक-भार,
इसके विषाद का रे न पार !

चिर अविचल पर तारक अमंद,

जानता नहीं वह छंद बंध ।

वह अनंत का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन।

निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम।

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अंधकार,
हलका एकाकी व्यथा - भार !

जगमग-जगमग नम का आँगन, लद गया कुंद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !

निष्ठुर परिवर्तन

(१)

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन

विश्व का करुण विवर्तन !

तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,

निखिल उत्थान, पतन !

अहे वासुकि सहस्र-फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर

छोड़ रहे हैं जग के विक्षित वक्ष-स्थल पर !

शतशत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयङ्कर

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !

मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर !

अखिल विश्व ही विवर,

वक्र कुण्डल

दिङ्मण्डल !

(२)

अहे दुर्जय विश्वजित् !

नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ;
धूमते शत शत भाग्यश्रनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित;
लग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर सञ्चित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमङ्गल;
वह्नि बाढ़, भूकम्प तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरङ्कुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टलमल
पद दलित धरातल !

(३)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुल पल-पल;
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोंपल बन, वाँछित कृषि फल !

अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मण्डल
 नैश गगन सा सकल
 तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(४)

काल का अकरुण भृकुटि विलास
 तुम्हारा ही परिहास;
 विश्व का अश्रुपूर्ण इतिहास !
 तुम्हारा ही इतिहास !

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
 समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर;
 भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृङ्गवर,
 नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूमि के मेघाडम्बर !
 अये, एक रोमाञ्च तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
 गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडगन;
 आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शतशत फन,
 सुग्ध भुजङ्गमन्सा, इङ्कित पर करता नर्तन !
 दिक् पिञ्जर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,

वाताहत हो गगन
 आर्त करता गुरु गर्जन !

(५)

जगत की शत कातर चीत्कार
 बेधतीं बधिर ! तुम्हारे कान !
 अश्रु स्रोतों की अगणित धार
 सींचतीं उर पाषाण !

अरे क्षण क्षण सौ सौ नि श्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति !

(६)

हाय री दुर्बल भ्रान्ति !—
कहाँ नश्वर जगती मे शान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !

—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिञ्चन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार;
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;
उलूकों के कल भग्न विहार,
भिल्लियों की भनकार !
दिवस निशि का विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

—

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा छायावाद की काव्य-धारा में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उन्होंने अपनी प्रेमानुभूति को रहस्यानुभूति का रूप देकर रहस्यवाद को बड़ा मधुर और ललित रूप प्रदान किया है। देवीजी की कविता में हृदय की समर्पण-भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया है और वे आधुनिक युग की मीरा कही जाती हैं। पर उनमें कलाकार के वे गुण भी हैं जो उन्हें गीति-काव्य के एक युगान्तरकारी कवि के रूप में सामने रखते हैं। उनके गीतों की लय-माधुरी, चित्रोपमता, कल्पना की सुकुमारता दर्शनीय है। छायावादी कवियों में उनकी कविताओं के सबसे अधिक लोकप्रिय होने का प्रधान कारण है अनुभूति की तीव्रता, जो कलात्मक परिधान लेकर सामने आती है। आधुनिक काव्य की कला और शृंगार-सज्जा में उन्होंने सर्वाधिक योग दिया है। उनकी कल्पना कहीं-कहीं अनुभूति से ऐसी घुल-मिल गयी है कि दोनों को अलग करना कठिन है। उन्होंने आरम्भ से लेकर अंत तक कलापरक कविताएँ ही लिखी हैं। ये विशुद्ध गीति-काव्य की कवयित्री हैं और गीति-काव्य उनके द्वारा सर्वाधिक सम्पन्न हुआ है।

महादेवीजी वेदनावाद की प्रवर्तिका और जीवन के करुण पक्ष की चित्रकार हैं। आध्यात्मिक अभाव और निराशा—प्रिय-मिलन की तीव्र उत्कंठा और लालसा ने उनकी कविता को प्रभाव की द्रवणशीलता प्रदान की है। उनकी शैली स्वाभाविक रूप से अलंकार प्रधान है। उसमें कहीं भी पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। अलंकार उनकी कविता में शृंगार-प्रिय नारी की हार्दिक प्रेरणा बन कर आते हैं। यह सत्य है कि कहीं-कहीं उनकी कविता में सीधपेन की चाँट नहीं होती और वह साँची-साँची-सो लगती है। पर अधिकतर उनकी रस-योजना सफल और प्रभावशालिनी होती है। उनकी कविता में वेदना और करुणा का साम्राज्य है। यह करुणा अलौकिक तत्त्व के लिए होकर

भी जीवन की भूमि से एक मौलिक लगाव रखती है। उन्होंने सदैव आत्म-प्रकाशन पर ही अपना लक्ष्य रखा है। प्रगतिशील कविता के प्रति उनका मुख्य आरोप यही है कि उसमें अनुभूति की सच्चाई और जीवनानुभव का रस नहीं होता। नवीन प्रयोगों के प्रति उदासीन रहने पर भी उनमें कविता का—गीति-शैली का हिन्दी में पर्याप्त अनुसरण किया गया है। गीतों में उन्होंने नये-नये सुरों की धारायें बहायी हैं और संगीत और कविता के बीच एक सुखद आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया है। भगवान् बुद्ध की कल्याण के दर्शन का प्रभाव उनकी कविता पर पड़ा है। उनकी भग्नता और प्रेम-पिपासा को उसने रहस्यात्मकता प्रदान की है। अपनी कलाकारोचित मौलिकता के कारण उन्होंने हिन्दी-कविता को नये प्रतीक, नयी चित्र-योजना और रूपक का नया विन्यास प्रदान किया है। लगता है कि वेदना के ताप से उनकी अनुभूति गल-गल कर बही है। उसमें आत्मा की पुकार है— उस आत्मा की जो जड़ता और माया के बंधनों में जकड़ी मुक्ति के लिए विकल हो रही है।

हिन्दी प्रसिद्ध आलोचक पं० नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में महादेवीजी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम्परा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं। वेदना की मार्मिकता दोनों में एक ही जैसी है पर अभिव्यक्ति-प्रणाली में बड़ा भेद है। कारण दोनों के युग की परिस्थितियों का अन्तर है। इसीलिए दोनों के विचार और कल्पनाओं में इतना अन्तर प्रतीत होता है। मीरा का प्रियतम सगुण और साकार था। महादेवी ने असीम के प्रति अपने को समर्पित किया है। पर ईश-प्रेम की निष्ठा दोनों में भक्ति की भावना को प्राधान्य प्रदान करती है। प्रकृति को अधिकतर महादेवी ने आलंबनों के रूप में ग्रहण किया है और उसमें रूपों, दृश्यों और भावों को कहीं-कहीं एक चेतन व्यक्तित्व उन्होंने दे दिया है। मन की व्यथा का व्यक्तीकरण उनका साध्य है।

‘नीहार’ महादेवीजी की पहली कविता-पुस्तक है। उसमें प्रिय के रूप-दर्शन की स्मृति और उसके फल-स्वरूप प्रिय-प्रियतम के सम्बन्ध की स्थापना है। प्रकृति में उन्हें ब्रह्म के लिए व्याकुलता दिखायी देती है। यहीं से अद्वैतवाद का भावनात्मक आधार उन्हें मिलता है। ‘रश्मि’ में आधी से अधिक रचनायें आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप निरूपित करती हैं। आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता स्थापित होती है। जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों में आत्मा की निर्विकारिता प्रतिपादित होती है। ‘नीरजा’ देवीजी की अनुभूति-प्रधान रचना है। इसमें उनकी विचार-धारा का प्रवाह ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। उनकी रचनाओं में अब प्रिया और प्रियतम का भाव घनीभूत हो गया है। ‘सान्ध्यगीत’ में उनकी साधना के सरस सुखद गीत हैं। उनकी वेदना-प्रधान भावना—उनका करुण दुःखवाद जैसे विस्मृत हो जाता है। कवयित्री वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा को पार कर लेती है। सान्ध्यगीत की रचनायें आत्मानन्द से परिपूर्ण हैं और मिलनमाधुरी से भी।

देवीजी की रचनायें—रहस्यवादी, वेदना-प्रसूत रचनायें, प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी रचनायें और गीति-काव्य इन चार रूपों में एक प्रकार से बाँटी जा सकती हैं। वे वियोग-शृंगार की कवयित्री हैं और अपने काव्य को उन्होंने चुने हुए अलंकारों से सजाने की चेष्टा की है। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित होती है जो परिष्कृत, कोमल और मधुर है। शैली में अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त-योजनायें मिलती हैं। भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण में वह पटु हैं। उनकी कविता प्रतीकों, समासोक्तियों और व्यंजक प्रयोगों के बल पर चलती हैं। उन्होंने प्रेम-आख्यानक कवियों के भावात्मक रहस्यवाद को मधुर भाव से अपनाया है। उनकी ‘दीप-शिखा’ में उनकी प्रौढ़तर कवितायें हैं, जो उनके कलाकार की तन्मयता को सामने लाती हैं। महादेवी लोक-भावना को व्यक्तनकरके भी अपने सीमिति क्षेत्र में मगान हैं।

[१]

प्रिय इन नयनों का अश्रु-नीर !

दुख से आविल मुख से पंकिल;

बुद्बुद् से स्वप्नों से फेनिल;

बहता है युग युग से अधीर !

जीवनपथ का दुर्गमतम तल;

अपनी गति से कर सजल सरल;

शीतल करता युग नृषित तीर !

इसमें उपजा यह नीरज सित;

कोमल कोमल लज्जित मीलित;

सौरभ सी लेकर मधुर पीर !

इसमें न पंक का चिह्न शेष,

इसमें न ठहरता सलिल-लेश,

इसको न जगाती मधुप-भीर !

नेरे करुणा-कण से विलसित;

हो तेरी चितवन से विकसित,

छू तेरी श्वासों का समीर !

[२]

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ !

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,

प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;

प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में;

शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;

कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ;
 शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
 फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ;
 एक हो कर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
 दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिससे दुलकते बिन्दु हिमजल के;
 शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पांवड़े पल के;
 पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में;
 हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;
 नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी;
 त्याग का दिन भी चरम आसक्तिका तम भी;
 तार भी आघात भी भंकार की गति भी;
 पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी;
 अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ !

[३]

तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या !

तारक में छवि प्राणों में स्मृति;
 पलकों में नीरव पद की गति;
 लघु उर में पुलकों की संस्मृति;
 भर लाई हूँ तेरी चंचल
 और करूँ जग में संचय क्या !

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
 परछाईं रजनी विषादमय;
 यह जागृति वह नींद स्वप्नमय;

खेल खेल थक थक सांने दो
मैं समझूंगी सृष्टि प्रलय क्या !

तेरा अधर-विचुम्बित प्याला
तेरी ही स्मितमिश्रित हाला;
तेरा ही मानस मधुशाला;
फिर पूछूँ क्यों मेरे साक्षी !
देते हो मधुमम विषमय क्या ?

रोम रोम में नन्दन पुलकित;
साँस साँस में जीवन शत शत;
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित;
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रय लय क्या ?

हारूँ तो खाऊँ अपनापन;
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन;
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन;
भर लाऊँ सीरी में सागर
प्रिय ! मेरी अब द्वार विजय क्या ?

चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम;
मधुर राग तू मैं स्वरसंगम;
तू असीम मैं सीमा का भ्रम;
काया छाया मैं रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

[४]

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

उसमें हँस दी मेरी छाया,

मुझ में रो दी ममता माया,
 अश्रु-हास ने विश्व सजाया,
 रहे खेलते आँख-मिचौनी—
 प्रिय जिसके परदे में—‘मैं’ ‘तुम’ !

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
 अपने दो आकार बनाने,
 दोनों का अभिसार दिखाने,
 भूलों का संसार बसाने,—
 जो झिलमिल-झिलमिल सा तुमने—
 हँस हँस दे डाला था निरुपम !

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
 कैसा पतझर, कैसा सावन ?
 कैसी मिलन-विरह की उलझन ?
 कैसा पल-घड़ियोंमय जीवन ?

कैसे निशि दिन ? कैसे सुख दुख ?
 आज विश्व में तुम हो या तम !
 टूट गया वह दर्पण निर्मम !

[५]

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
 युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल;
 प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन;
 मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन;
 दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
 तेरे जीवन का अणु गल गल !

पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण;

विश्व शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाथ न जल पाया तुझ में मिल' !

सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जन्तते नभ में देख असंख्यक;
स्नेहहीन निन कितने दीपक;

जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत् ले घिरता है बादल !

विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अङ्ग हारत कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;

वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल !

बिखर बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;

मैं अञ्चल की ओट किए हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चञ्चल !

सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
हे अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;

मैं दृग के अक्षय कोपों से—

तुझमें भरती हूँ आँसू-जल !

सजल सजल मेरे दीपक जल !
 तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
 खेलेंगे नव खेल निरन्तर.
 तम के अणु अणु मैं विद्युत् सा—
 अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल सरल मेरे दीपक जल !
 तू जल जल जितना होता क्षय;
 वह समीप आता छलनामय;
 मधुर मिलन में भिट जाना तू—
 उसको उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
 प्रियतम का पथ आलोकिन कर !

[६]

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
 तो चिरजीवन-प्यास बुझा
 लेती उस छोटे क्षण अपने में !

पावस घन सी उमड़ बिखरती;
 शरद निशा सी नोरव विरती;
 धो लेती जग का विपाद
 दुलते लघु आँसू-कण अपने में !
 तुम्हें बाँध पाती सपने में !

मधुर राग बन विश्व सुलाती;
 सौरभ बन कण कण बस जाती;
 भरती मैं संसृति का क्रन्दन
 हँस जर्जर जीवन अपने में !

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
 सबकी की सीमा बन, सागर सी;
 हो असीम आलोक लहर सी;
 तारोंमय आकाश छिपा
 रखती चंचल तारक अपने में !
 तुम्हें बाँध पाती सपने में !
 शाप मुझे बन जाता वर सा;
 पतझर मधु का मास अजर सा;
 रचती कितने स्वर्ग, एक
 लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में !
 तुम्हें बाँध पाती सपने में !
 साँसें कहती अमर कहानी;
 पल पल बनता अमिट निशानी;
 प्रिय ! मैं लेती बाँध मुक्ति
 सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में
 तुम्हें बाँध पाती सपने में !

[७]

मैं नीर भरी दुख की बदली !
 स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
 क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
 नयनों में दीपक से जलते,
 पलकों में निर्भरिणी मचली !
 मेरा पग पग संगीत भरा,
 स्वांसों से स्वप्न-पराग भरा,
 नभ के नवरँग बुनते दुकूल,
 छाया मैं मलय-वयार पली !

मैं क्षितिज-भ्रुकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अबिरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी,
नवजीवन-अंकुर बन निकली !

पथ को न मलिन करता आना,
पद-चिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में,
सुख की सिहरन को अंत खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

मैं नीर भरी दुख की बदली !

[८]

कैसे सँदेश प्रिय पहुँचाती !

दृगजन की सित मसि है अक्षय,
मसिप्याली, भरते तारकद्वय;
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर;
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !

छायापथ में छाया से चल,
कितने आते जाते प्रतिपल;
लगते उनके विभ्रम ईंगित,
क्षण में रहस्य क्षण में परिचित;

मिलता न दूत वह चिरपरिचित
जिसको उर का धन दे आती ।

अज्ञात पुत्तिन से, उज्ज्वलतर,
किरणें प्रवाल तरणी में भर;
तम के नीलम-कूलों पर नित,
जो ले आती ऊषा सस्मित;
वह मेरी करुण कहानी में
मुमकानें अंकित कर जाती !

सज केशरपट तारक बेदी,
दृग-अंजन मृदु पद मे मँहदी;
आती भर मदिरा से गगरी,
संध्या अनुराग सुहागभरी;
मेरे विपाद मे वह अपने
मधुरस की बूँदें छलकाती !

ढाले नव घन का अवगुण्ठन,
दृग-तारक में सकरुण चितवन
पदध्वनि से सपने जाग्रत कर,
श्वासों से फैला मृक तिमिर,
निशि अभिसारों में आँसू से
मेरी मनुहारें धो जाती !

[६]

मुग्धाता संकेतभरा नभ
अनि क्या प्रिय, अनेवाले हैं ?

विद्युत् के चल स्वर्णपाश में बँध हँस देता रोता जलधर
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर;

दिन निशि को, देती निशि दिन को

कनक-रजत के मधुप्याले हैं !

अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं ?

मोती बिखरातीं नूपुर के छिप तारक-परियाँ नतन कर ;

हिमकण पर आता जाता मनयानिल परिमल से अञ्जलि भर ;

आन्त पथिक से फिर फिर आते

विस्मित पल क्षण मतवाले हैं ।

अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं ?

सघन वेदना के तम में, सुधि जाती सुख सोने के कण भर ;

सुरधनु नव रचतीं निश्वासें, स्मित का इन भीगे अधरों पर ;

आज आँसुओं के कोषों पर

स्वप्न बने पहरवाले हैं !

अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं ?

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रहे कैसी उलझन !

रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का स्पन्दन !

पुलकों से भर फूल बन गये

जितने प्राणों के छाले हैं !

अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं ?



रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा हिन्दी के कल्पना प्रधान कवियों में गिने जाते हैं। उनकी कविता के कई रूप हमें मिलते हैं। वे रहस्यवादी माने जाते हैं और उनकी कई कविताओं में बड़े स्पष्ट दार्शनिक संकेत हैं। पार्थिव जीवन के क्रोड़ में आधारभूत सत्ता की अनुभूति के क्षणों को जीवन के स्वाभाविक मनोवेग के रूप में प्रकट करना आपकी रहस्यवादी कविताओं की विशेषता है। चिंतन की प्रवृत्ति भी आपमें बराबर देखी जाती है। आज के युग में प्राचीन रहस्यवाद चिंतन का रूप ले लेता है और उसका आश्रय लेकर रामकुमार ने संसार के कण-कण में व्याप्त सत्ता का परिचय दिया है। प्रकृति-निरीक्षण में वे पटु हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य के छोटे छोटे चित्र खींचने में उन्हें सफलता मिली है। सत्य के अनुसंधान की चेष्टा वे बराबर करते रहते हैं।

भाषा पर रामकुमारजी का अच्छा अधिकार है। शब्द-चयन कलात्मक और भावपूर्ण होता है। भाषा की शुद्धता और सुव्यवस्था उसे साहित्यिक परिमार्जन प्रदान करती है। गीत और मुक्तक काव्य लिखने के बाद अब वे फिर प्रबन्ध-काव्य की ओर प्रवृत्त हुए हैं। भावना की दृष्टि से वे रहस्यवाद और छायावाद के संधि-स्थल पर खड़े हैं। दोनों प्रकार की रचनायें उन्होंने की हैं और कुशलता के साथ की हैं। उनके काव्य में करुण रस की प्रधानता है पर शृंगार भी बीच-बीच में मिलता है, यद्यपि यह शृंगार अधिकतर अश्रुसिक्त होता है। सौन्दर्य-राशि का अन्वेषण करते समय कवि कहीं भी वासना की ओर प्रवृत्त नहीं होता। जीवन की पवित्रता और निर्लिसता के ही चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

कबीर के काव्य और दार्शनिक सिद्धान्तों का रामकुमारजी ने विशेष रूप से अध्ययन किया है। कबीर का रहस्यवाद उनका विषय

रहा है और इसलिए रहस्यवादी सिद्धान्तों को उन्होंने बड़ी सफलता के साथ अपनी कविताओं में प्रकट किया है। इस रहस्यवाद में माधुर्य कम है ज्ञान की सात्विकता और चिंतन की क्रिया अधिक। रहस्यवाद में विरह का अपना स्थान होता है और उस विरह की भावना रहस्यवादी कवि में नैराश्य को जन्म देती है। यह नैराश्य कहीं-कहीं अनुभूति के माध्यम से आता है और कहीं-कहीं ऊपर से आरोपित लगता है। इस नैराश्य के साथ जब शृंगार का योग हो जाता है, तब इसका माधुर्य और प्रभाव बढ़ जाता है अन्यथा वह एक प्रकार की तार्किक शुष्कता लेकर आता है। रामकुमारजी ने लौकिक अनुभूतियों का प्रकाशन कम किया है—अधिकतर दार्शनिक काव्य की रचना की है। उनकी दार्शनिक कविता में—उन्हीं की क्या आज के किसी रहस्यवादी कवि की कविता में प्राचीन कवियों का संतत्व ढूँढ़ने का प्रयास करना व्यर्थ होगा क्योंकि वह युग दूसरा था और उस समय का जीवन आज जैसा जटिल और संघर्षमय न था।

वर्माजी ने कुछ ऐतिहासिक कविताएँ भी लिखी हैं। इन कविताओं में शक्ति की प्रधानता है और प्रवाह भी खूब है। शुजा, नूरजहाँ आदि उनकी ऐसी ही कवितायें हैं। प्रबंधात्मक काव्य भी आपने लिखा है। उनका निशीथ छायावाद-स्कूल का प्रथम प्रबंध-काव्य माना जाता है। वीर हमीर, चित्तौड़ की चिता तथा नूरजहाँ में वे इस क्षेत्र में अधिकाधिक सफल होते चले गये। बाद में मुक्तक काव्य की ओर अधिक उन्मुख हुए—कल्पनावप्ती और वेदनावादी बन गये। जहाँ-जहाँ कवि सत्य को पहचानने में असफल हुआ और उस असफलता का चित्र उन्होंने खींचा है, वहाँ-वहाँ उनकी निराशा हार्दिक और स्वाभाविक है। चटकीले रंगों का विन्यास न कर आप हस्के और मनोरम कला-स्पर्श देने में अधिक विश्वास करते हैं। जहाँ-जहाँ उनके गीतों में आध्यात्मिक मिलन की प्रगुति मिलती है, वहाँ-वहाँ एक प्रकार की

उल्लसित आत्म-तृप्ति का अनुभव कवि करता है। प्रकृति के आलंबनों का सहारा उन्हें अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को प्रकट करने में अधिक लेना पड़ता है - महादेवीजी में कहीं अधिक।

इस प्रकार वर्माजी जीवन की विविध भावनाओं और अनुभूतियों के कवि हैं। कोमल कल्पना जो कहीं कहीं विराट पटभूमि ले लेती है - मृदुल भाषा और परिष्कृत शृंगार - आपकी कविता की विशेषता है। कहीं-कहीं कर्ण-मधुर संगीत भी आपकी कविता में मिलता है। अध्ययन और काव्य-प्रतिभा दोनों का सुखद संगम आप के काव्य में है। रहस्यवाद के आप कवि ही नहीं, इसके काव्यदर्शन के अखंड जानकार भी हैं, यह पहले कहा जा चुका है। वर्माजी अग्रणी एकाङ्कीकार हैं। आपके एकाङ्की-नाटकों के कई सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कल्पना का अत्यधिक आश्रय ले लेने के कारण उनकी कविताओं में जो अस्पष्टता और असम्बद्धता कहीं-कहीं आ जाती है, उसका आपके एकाङ्की नाटकों में अभाव है। वे खेले जा सकते हैं और अपने अन्य नाटकीय गुणों के लिए प्रसिद्ध हैं।

वर्माजी आधुनिक युग के एक प्रमुख कवि हैं। उनके कुछ गीत बड़े सफल हुए हैं और लोकप्रिय भी। 'एकलव्य' महाकाव्य आप लिख रहे हैं जिसमें गांधीवाद का काव्यात्मक रूप देखने को मिलेगा, ऐसा विश्वास किया जाता है। अंजलि, रूप-राशि, चित्ररेखा, चन्द्र-किरण, निशिथ, आकाश-गंगा आदि आप की कविता पुस्तकें हैं, जो वर्तमान हिन्दी-कविता में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। संगीत आप की कविताओं में प्रचुर मात्रा में मिलता है, जिसमें हृदय और आत्मा दोनों की तन्मयता पायी जाती है।

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
 आज अनश्वर गीत ?
 जीवन की इस प्रथम हार में,
 कैसे देखूँ जीत ?
 उषा अभी सुकुमार; क्षणों में--
 होगी वही सतेज,
 लता बनेगी ओस-बिन्दु की
 सरल मृत्यु की सेज ;

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप ।
 किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप ।

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
 निराशा के पथ का ?—अज्ञात !
 दिन को क्यों लपेट देती है
 श्याम वस्त्र में रात ?
 और, काँच के टुकड़े बिखरा—
 कर क्यों पथ के बीच,
 भूले हुए पथिक-शशि का दुख—
 देता है नभ नीच ?

यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
 यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल ।

देख रहा हूँ बहुत दूर पर,
 शान्ति-रश्मि की रेख ;
 उस प्रकाश से मैं अशान्त-तम-
 ही सकता हूँ देख ;

काँप रही स्वर-अनिल लहर
रह रह कर अधिक सरोप ;
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष !

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप !
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप ।

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम ;
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम ;
दया कहाँ है ? दूषित उसको—
करता रहना रांप ;
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष ;

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप ।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप ।

मेरे दुःख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ ;
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिलुक-हाथ ;
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह ;
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहती मेरी आह ;

‘मर-मर’ शब्दों में हँस कर, पत्ते हो जाते मौन ।
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है--चली जा रही—
 है चंचल अविराम ;
 थकी हुई लहरों को देने,
 दोनों तट विश्राम ;
 मैं भी तो चलता रहता हूँ
 निशिदिन आठों याम ;
 नहीं गुना मेरे भावों ने,
 'शान्ति-शान्ति' का नाम ;

लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन ।
 लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !

शुजा

मौन-राशि ओ अराकान !

अथ-हीन और इति-हीन मौन, यह मन है, तन भी यही मौन;
 निजेनता की बहुमुखी धार, अविदित गति से है बही मौन ।
 यह मौन ! विश्व का व्यथित पाप; तुझ में क्यों करता है निवास ?
 क्या व्योम देख कर ? अरे व्योम—मैं तारों का है मुक्त हास ।
 ये शिला-खड—काले कठोर—वर्षा के मेघों—से कुरूप !
 दानव—से बैठे, खड़े या कि—अपनी भीषणता में अनूप !
 ये शिला-खड—मानों अनेक पापों के फैले है समूह !
 या नीरसता ने चिर निवास—के लिये रचा है एक व्यूह !
 वह सर्प—(मृत्यु-रेखा सजीव)—खिचती चलती है दिशा-हीन !
 विष मौन कर रहा है प्रवास; ले एक वक्र वाहन मलीन ।
 दो भागों में जिह्वा-प्रवाह, चंचल है सुख-दुख के समान;
 तजता समीर फुफकार—आह, यह देख मृत्यु का सगति यान ।
 ओ अराकान ! यह विषम भूमि, भय ही जिसका है द्वारपाल;

शिशुपन यौवन से है अजान, जर्जरपन ही था जन्मकाल ।
 सुख-सदृश न्यून हैं लघु प्रसून, दुख के समान हैं कुछ अपार;
 दोनों का अनुचित विवश योग, है जीवन का अज्ञात हार ।
 क्या हार ? आह, वह शुजा बार ! संग्राम-भूमि में गया हार !
 यह वही शुजा है जो सदैव—वैभव का था जीवित विहार !
 यह वही शुजा है, एक बार—जिससे सज्जित थे राज-द्वार !
 अब हार—(विजय की पतित राशि) लज्जित करता है बार-बार !
 जीवन के दिन क्या हैं अनेक ? वृद्धा के सिर के श्याम केश !
 जर्जरपन ही है मुक्त - द्वार; जिसके सम्मुख है मृत्यु - देश !
 यह वैभव का उज्ज्वल शरीर, दो दिन करता है अट्टहास;
 फिर देख स्वयं निज विकृत रूप, लज्जित हो करता है पवास !
 वह शुजा ! आह, फिर वही नाम—मचले बानक-सा बार-बार;
 सोई स्मृति पर लघु हाथ मार, क्यों जगा रहा है इस प्रकार ?
 वह शाहजहाँ का राज्यकाल ! मानों हिमकर का रजत हास !
 लक्ष्मी का था इस्लाम-रूप ! स्वर्गों का था भू पर निवास !
 जब शाहजहाँ ने एक बार, सोचा जीवन का निकट अन्त;
 हृग से दो आँसू गिरें और—उनमें आकांक्षा थी अनन्त ।
 ये जीवन के दो दिवस शेष, जिनमें हांगों स्मृतियाँ अतीत;
 प्रिय ताजमहल के पास क्यों न, हों प्रेयसि-चिन्तन में व्यतीत ?
 कुछ दूर—आगरे में अनूप, संचित है स्मृति का अश्रु-विंदु;
 वह ताज—(वेदना की विभूति), अंकित है भू पर पूर्ण इन्दु ।
 यह शाहजहाँ है एक व्यक्ति, जिसने इतना तो किया काम;
 दे दिया विरह को एक रूप, है 'ताज' उसी का व्यथित नाम ।
 पर—है प्रेयसि की स्मृति पवित्र, कितनी कोमल ! कितनी अनूप;
 फिर शाहजहाँ ने बन कटोर, क्यों दिया उसे पाषाण-रूप ?
 यदि फूलों से निर्मित अम्लान, यह ताजमहल होता सदास;

तब होता स्मृति का उचित चिह्न, मैं क्यों रहता इतना उदास ?
 तारों की चितवन के समान, था शाहजहाँ अपलक अधीर;
 यमुना की लहरों से समोद । क्रीड़ा करता था मृदु समीर ।
 कितने भावों को कर विलीन, छोटे-से दृग के बीच आज;
 दिल्ली का स्वामी बन मलीन, था देख रहा निस्तब्ध ताज ।
 वह ताज ! देख कर उसे हाय, उठता था दृग में विकल नीर ;
 मुमताज ! कहाँ पापाण-भार, है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर !
 है कहाँ तुम्हारी मंदिर-दृष्टि, जिसमें निमग्न था अधर-पान ?
 अधरों में संचित था अनूप, झुज-सा कोमल मधुर गान !
 था मधुर गान ! ..अः, वह मुराद, औरंगजेब के सहित आज ;
 है शुजा—शुजा भी है स-आज, सजने को भीषण युद्ध-साज ।
 दिल्ली का सिंहासन विशाल, है आज युद्ध का पुरस्कार ;
 जीवन होगा जय का स्वरूप, क्या मृत्यु-रूप होगी न हार ?
 नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति, बन गई सुतों का बल अपार ;
 दारा, मुराद, औरंगजेब, थे मानों जीवित अहंकार ।
 सतलज की लहरें हुईं लुब्ध, जब उठा भयंकर युद्ध-नाद ;
 प्रतिबिम्बित था जल में अनन्त—सेना-समूह—भीषण विषाद ।
 दारा का वैभव - पूर्ण युद्ध, वृद्धा - जीवन - सा था अशक्त ;
 (धन का सेवक था युद्ध - वाद्य, बह गया स्वर्ण के साथ रक्त !)
 वह दिल्ली से लाहौर और—मुलतान सिन्ध से गया कच्छ ;
 कलुषित-सा होने लगा नित्य, उसकी जय का आकार स्वच्छ !
 दादर में दारा की विभूति—का द्रुत आँसू में था प्रवाह ;
 नादिरा-हृदयसंगिनी आज, थी मृत्यु - संगिनी आह ! आह !
 दारा के उर पर अश्रु और मोती बिखरे थे बन अधीर ,
 सिसकियों - भरे चुम्बन - समेत; था मृतक नादिरा का शरीर !!
 बन्दी था अब वह राजपुत्र , भिलुक - स्वरूप हो गया ईश !

क्षण-एक हुआ चीत्कार रुद्ध; फिर गिरा रक्त से सना शीश !
 वह शीश देख औरंगजेब—हँस कर रोश था बहुत देर,
 मानो निदेयता ने सन्भूल, थोड़ी सी करुणा दी बिखेर ।
 भोला मुराद—(भदिरा-प्रवीण)—मोया था होकर शस्त्र-हीन,
 चरणों को अलसाई अनूप, थी दबा रही बाँदी नवीन,
 उस समय दुष्ट औरंगजेब—ने भेजा था क्यों शेख मीर ?
 जिससे सहायताहीन सुप्त, भाई का बन्दी हो शरीर ।
 अः शुजा ! और तुम ! कहो वीर ! बंगाल तुम्हारा या प्रवास,
 सुख का दिन—सुख की रात शान्त, यह भव्य वर्षों का निवास !
 उस राजमहल की शान्त वायु—पा शाहजहाँ का समाचार,
 निबल रोगी-सी हुई जुबुन; आकांक्षा का हिल उठा तार ।
 तू बड़ा हाथ में ले सगव, शासन का गौरव-पूणे भार;
 तेरा गौरव था एक चित्र—तेरा साहस था चित्रकार !
 थी शत्रु-वाहिनी अति प्रमत्त; तू विमुख हुआ था बार-बार,
 मानों दृढ़ तट पर शक्तिहीन लहरों का था असफल प्रहार ।
 औरंगजेब से हुआ युद्ध, जिसमें थी गज सेना अपार;
 विजयी बनकर भी कई बार; तुझको क्यों स्वीकृत हुई हार ?
 टाका से भागा अराकान; खाकर अपना विजयी स्वभाव,
 कितनी नदियाँ की शीघ्र पार; आशाओं ही की बना नाव ।
 गौरव-रक्षण के हेतु वीर ! तूने अपनाया वन-प्रदेश !
 राक्षस है क्या अब भी महान् ! तेरा वह विक्रम वीर वेश ?
 तेरे वैभव का मृदु विलास; इस अराकान से था अपार,
 इसके पर्वत से भी महान्; तेरे सुख का था मधुर भार ।
 इसमें विभीषिका भी सदैव, रहती है हो-होकर सभोत;
 तेरे समीप मुस्कान मंजु, अधरों में होती थी व्यतीत ।
 तरु तोड़-तोड़ कर यहाँ नित्य, भँका करता है अट्टहास !

तेरे शरीर में नव सुगन्धि, लिपटी - सी करती थी निवास ।
 ले अपने वैभव का शरीर, आया है तू इस भाँति श्रान्त ;
 एकान्त भूमि में इस प्रकार, तू ही है उजड़ा एक प्रान्त !
 ओ अराकान के शून्य प्रान्त ! तेरे विशाल तन में प्रशान्त ;
 वह शुजा हृदय की भाँति आज, क्या धड़क रहा है बन अशान्त ?

गीत

१

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी ।

चल अविचल जल कल-कल पर
 गुंजित कर गति की लघु लहरी ।

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी ।

साँसों के दो पतवार चपल,
 सम्मुख लाते हैं नव नव पल;
 अविदित भविष्य की आशंका की

छाया है कितनी गहरी !
 निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी ।

मेरी करुणा का मृदु सावन,
 पुलकित कर दे तन-तन मन-मन;
 विस्तृत नभ की व्याकुल विद्युत

पल पल बन जाती है प्रहरी ।
 निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी ।

२

एक दीपक-किरण-कण हूँ ।
 धूस्र जिसके कोड़ में हैं,
 उस अनल का हाथ हूँ मैं,
 नव प्रभा लेकर चला हूँ,
 पर जलन के साथ हूँ मैं ।
 सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना
 का ज्वलित क्षण हूँ ॥

ज्योम के उर में अगाध--
 भरा हुआ है जाँ अंधरा ;
 और जिसने विश्व का प्रत्येक
 कण सौ बार घेरा ।
 उस तिमिर का नाश करने
 के लिये मैं अखिल प्रण हूँ ॥

शलभ को अमरत्व देकर,
 प्रेम पर मरना मिखाया ;
 मृत्यु का सन्देश लेकर
 रात्रि के उर में समाया ।
 पर तुम्हारा स्नेह खाकर,
 मैं तुम्हारी ही शरण हूँ ॥
 एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

३

प्रिय ! तुम भूले; मैं क्या गाऊँ ?
 जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
 जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ ?

प्रिय ! तुम भूले; मैं क्या गाऊँ ?
 शब्दों के अधःखुले द्वार से
 अभिलाषाएँ निकल न पातीं ।
 उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर
 इच्छाएँ चलकर थक जातीं ॥
 हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,
 कैसे तुमको पास बुलाऊँ ?
 प्रिय ! तुम भूले; मैं क्या गाऊँ ?
 जुही-सुरभि की एक लहर से
 निशा बह गई, डूबे तारे ।
 अश्रु-बिन्दु में डूब-डूब कर,
 हग तारे ये कभी न हारे ॥
 दुख की इस जगति में कैसे,
 तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?
 प्रिय ! तुम भूले; मैं क्या गाऊँ ?

द्वारकाप्रसाद मिश्र

मिश्रजी हिन्दी के मौन-साधक कवि हैं। आपका केवल एक महाकाव्य कृष्णायन प्रकाश में आया है पर उसी के बल पर आपने हिन्दी के प्रमुख कवियों में अपना स्थान बना लिया है। कृष्णायन में आपकी अनेक वर्षों की साहित्य-साधना है और हिन्दी के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में वह गिना जा रहा है। उसमें कृष्ण का पूर्ण चरित्र प्रबन्ध काव्य के रूप में हिन्दी में प्रथम बार आया है। कवि ने कृष्ण भगवान के व्रज, मथुरा और द्वारिका के वर्णन का एक कथा के तारतम्य में आबद्ध करके—काव्य-कौशल और कला की आंतरिक सूत्रबद्धता से गूँथकर चरित्रनायक के जीवन की अनेकरूपता के दर्शन कराये हैं। कवि ने प्रबन्ध-काव्य की प्रतिष्ठित भाषा अवधी का अपनाया है। मिश्रजी की अवधी तत्सम-प्रधान, साहित्यिक परिष्कार से मुक्त जालिन्ध्रपूर्ण अवधी है। पुस्तक भर में दोहा, चौपाई और सोरठा छंदों से काम लिया गया है। ये छंद कथा के प्रवाह का आवश्यक गति और विराम देते हैं। काव्य में लोक-संग्रह की भावना पग पग पर मिलती है। भावुकता और कर्त्तव्यपरायणता का सुन्दर योग उपस्थित किया गया है। मिश्रजी में पांडित्य और कवित्व का मणि कांचन योग है। व्रज और मथुरा के वर्णनों में सूरदास का सा काव्य-माधुर्य मिलता है—अधिक से अधिक जो अवधी में आ सकता है। महाकाव्य का पूर्णत्व इस कृति में देखने को मिलता है और महाकाव्य के प्रायः सभी वर्ग विषय इसमें आ गये हैं। विनोद और व्यङ्ग्य बराबर मिलता है। नख-शिख, पद-श्रुत तथा प्रकृति-वर्णन नवीन कल्पनाओं और उद्भावनाओं से युक्त हैं।

मिश्रजी के वर्णन इतने सजीव और निर्दोष हैं कि देखते ही बनते हैं। वर्णन करने की अद्भुत शक्ति कवि ने पायी है। महाकाव्य में प्रबन्धत्व का सौन्दर्य बनाये रखने के लिए वर्णन-शक्ति की अद्वयता कवि में आवश्यक होती है। कवि ने जहाँ जिसका वर्णन किया है, उसका

जैसे चित्र खींच दिया है। श्री भगवतीचरण वर्मा जैसे आधुनिक उपन्यासकार भी मिश्रजी की वर्णन करने की स्वाभाविक निपुणता पर मुग्ध हैं। क्या चरित्र-सृष्टि, क्या जीवन-संदेश और क्या पट भूमि का प्रसार, मधुर और विराट का सुखद विनियोग और समाज-दर्शन सभी दृष्टियों से कृष्णायन युग की एक चंटी पर की रचना है। महाकाव्य के पाँच मुख्य तत्त्व माने जाते हैं—सानुबंध कथा, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना, देशकाल और शैली। मिश्रजी ने एक लोकपावनी, घर-घर में व्याप्त ऐतिहासिक गाथा को लेकर मानव-आदर्श और विश्व-रुचि की स्थापना की है। अनेक रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन-दशाओं का समावेश कवि ने किया है। विशद चिंतन, विचार बहुलता और दार्शनिक तथ्यों की सर्वजन-सुलभ प्रतीति और व्याख्या ग्रन्थ में पग-पग पर मिलती है। एक प्रकार का अन्तर्निहित प्रकाश ग्रन्थ में छिपा है, जिसे अनुभव कर राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने लिखा कि वह ग्रन्थ युग-प्रवर्तक होने और रामचरित मानस की भाँति घर-घर प्रवेश पाने की शक्ति रखता है।

मिश्रजी के वर्णनों की मनोज्ञता और सफाई पर ऊपर कहा जा चुका है। वर्णन-योजना पर कवि की दृष्टि सुस्थिर है और वह विस्मयोद्बोधक, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में ही सारी शक्ति नहीं लगा देता। वन-प्रान्तरों के, ग्राम्य जीवन की सरस सरलता के, मानसिक संघर्षों और जीवन-व्यापारों के चित्रण उसने बड़े सुन्दर रूप में किये हैं। यही कवि का वस्तु-वर्णन है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत कथोपकथन और चरित्र-चित्रण की खूबियाँ आती हैं। कवि परंपरा भी इसके अंदर माननी चाहिये। कृष्ण के जीवन में आने वाले सारे चरित्रों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन कवि ने किया है। परिस्थिति-जन्य विविधता का चित्रित करना वे खूब जानते हैं। मानव-प्रवृत्तियों का व्यापक ज्ञान उन्हें है। मानव-हृदय की मूल प्रवृत्तियों का संघर्ष कवि ने बड़े मनोयोग के साथ दिखाया है। कवि के कथोपकथन पात्रों के अनुरूप तो हैं ही काव्य की

उच्चाशयता को व्यक्त करनेवाले भी हैं। महाकाव्य का एक स्वाभाविक ऊँचा स्तर होता है और कवि उससे नीचे नहीं उतरता। कृष्णायन के अनेक चरित्र हमारी भावना के विषय बन जाते हैं। यही चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता है।

महाकवि सदा अपने द्वारा चुने गये युग विशेष की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का सच्चा रूप प्रस्तुत करता है। आज के गद्य-युग में महाकाव्य का यही उत्तराधिकार ऐतिहासिक उपन्यास को मिला है। कृष्णकालीन परिस्थितियों और वातावरण की सापेक्षता में ही कवि अपनी कथा-वस्तु का चित्रण और निरूपण करता है। तत्कालीन युग का वातावरण जितनी सजीवता से सृजित होगा, उतनी बड़ी सफलता कवि की मानी जायगी। कृष्णायन को पढ़ने समय लगता है कि हम उसी युग में बिचर रहे हैं और सोंस ले रहे हैं। भाषा की कठिनता भी पाठक के इस बोध में बाधक नहीं होती। शैली में उदात्तता और काव्य-वैभव की नियोजना होनी चाहिए। कृष्णायन की शैली में एक स्वाभाविक उच्चता और आभिजात्य है जो महाकाव्य को गरिमा प्रदान करता है। कृष्णायन की शैली की यह उदात्तता रसास्वादन में कहीं बाधक नहीं होती।

कृष्णायन में स्वानुभूति और लोकानुभूति का विलक्षण समन्वय पाया जाता है। राजेन्द्रबाबू के ही शब्दों में मिश्रजी ने शील, सौन्दर्य और शक्ति तीनों तत्त्वों के चित्रण में असाधारण प्रतिभा प्रदर्शित की है। आज के भौतिकतावाद से पीड़ित और अनास्था, अश्रद्धा से ग्रस्त युग को कवि ने एक संदेश सुनाया है। सारे ग्रन्थ में सुधार के पोषण और कुरीतियों के निवारण के लिए प्रेरक सामग्री फैली मिलती है। बुद्धिवाद की अतिशयता से पीड़ित इस युग में कवि ने परम्परावाद की प्राणमयी धारा बहाई है। अधिक से अधिक जन समूह का कल्याण उनका ध्येय है। देश की दलित शोषित जनता में कवि आत्म-विश्वास की दीप्ति जगाना चाहता है और इसमें वह सफल हुआ है।

भीष्म का युधिष्ठिर को उपदेश

दोहा—प्रभु - प्रसाद सरिसुत-वदन, बही ज्ञान-रस-धार ,
सागर किमि गागर भरहुँ, बरनहुँ स्वल्पहि सार । १

प्रभु-पद-पद्म वंदि अभिरामा, कीन्ह भीष्म पुनि मुनिन प्रणामा ।
ज्ञानि धर्ममति नृप-अभिलाषा । कीन्हो प्रथम धर्म परिभाषा—
“धारण करत सृष्टि जो सारी, सोई धर्म सर्व - हितकारी ।
मानत द्विविधि तात ! तेहि ज्ञानी, पृथक पृथक दोउ कहहुँ बखानी ।
सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय-सयम, शौचास्तेय पंच धर्मोत्तम !
नित्य इनहिं तुम जानहु ताता ! सबे काल, सब कहँ सुख-दाता ।
पुनि अनित्य बहु धर्माचारा, प्रचलित देश काल अनुसार ।
गुनि मन माहि लोक-हित-ज्ञानी, ग्रहण करत, त्यागत तेहि ज्ञानी ।

दो०—वेदस्मृति शास्त्रहु कहत, बहु प्रकार युग-धर्म ,
अज्ञानिहि हाँठ आचरत, सुजन समुझि तिन मर्म । २

कृतयुग प्रचलित जो आचारा, त्रेता पुनि न तासु व्यवहारा ।
जो त्रेता सो रहेंउ न आजू, धर्महु अनुहरि चलत समाजू ।
आदि काल सब नर स्वाधीना, नहिं कोउ राज्य-कुटुम्ब अधीना ।
नहिं विवाह-बंधन तोह काला, सब स्वच्छंद-विहारिणि बाला ।
श्वेतकेतु लखि प्रजा-विपादा, बाँधी यह विवाह - मर्यादा ।
पति-पत्नी-अपत्य बँधि बंधन, उपजायेउ कौटुम्बिक जीवन ।
कुल कुटुम्ब ते, कुल ते जाती, बाढ़ेउ, जन-समाज बहु भाँती ।
बसे ग्राम, पुर निगमहु नाना, क्रम क्रम भयेउ राष्ट्र-निर्माणा ।

दोहा—सँग कुटुम्ब, कुल, जाति के, उपजे जे व्यवहार ,
सोइ धर्म तेहि काल के, सोइ मान्य आचार । ३

पालत स्वेच्छा तिनहिं समाजा, कतहुँ न कोउ नियामक राजा ।
मानत जे न धर्म-अनुशासन, करत समाज आपु तिन-शासन ।
अन्य जाति कुल जब चदि आवत, मिलि युद्धत, इक एक बचावन ।

सबहिं सर्व-कर्मन-कर्तार, आपु पुरोहित, बणिक जुभारा ।
अस समाज 'गण' तात ! कहाये, शास्त्रन विविध गणन-गुण गाये ।
जब लगि नित्य धर्म सद्भावा, नहिं समष्टि-हित व्यक्ति नसावा ,
तब लगि बढ़त गयेउ बल-वैभव, करि न सकेउ कोउ गणन-पराभव ।
पै क्रम क्रम गुण छीजन लागे, अलस अनैक्य गणन महँ जागे ।

दोहा—पागे निज निज स्वार्थ नर, सबहि सर्व-हित भार ,

विस्रव व्यापेउ भूमितल, नष्ट जाति आचार । ४
तेहि अशान्ति ते उपजेउ राजा, दस्यु बिनासि, साधि जन काजा ।
'विरजा' नाम वंश विख्याता, प्रथम राज-कुल हेम-प्रदाता ।
उपजे विपुल नृपति जन-वत्सल, थापे नित्यधर्म दलि खल-दल ।
सुखी समृद्ध निखिल जब देशा, उपजेउ तेहि कुल वेन नरेशा ;
लहेउ सिंहासन क्रूर, कुवाली तजि नृप-धर्म प्रजा खल घाली ।
रहे अराजकता - दुख जेने, उपजे वेन - राज्य पुनि तेते ।
लखि मुनिजन - उर चोभ - अपारा, गहि कुश मंत्र-पूत संहारा ।
वेनहि सदृश ज्येष्ठ सुत तामू , नाम निषाद, कुमति, नर-पाशू ।

दोहा:—निरखि क्रूर, नृप-गुण-रहित, पितु-सम इन्द्रिय-दास,

जानि प्रजा-मत तेहि मुनिन, दीन्ह देश-निर्वास । ५
वेन द्वितीय तनय 'पृथु' नामी, विनय-निधान, धर्म-अनुगामी ।
सौंपत तेहि पैतृक सिंहासन, दीन्ह मुनीशन अस अनुशासन—
'चहत जो निज पितु-राज्य विशाला, हाहु प्रतिज्ञा-वद्ध भुआला ।
राजा सोइ करत जन-रंजन, क्षत्रिय, अक्षत जासु प्रजाजन ।
नित्य धर्म, जातिहु आचारा, औरहु जे हितकर व्यवहारा,
तुम्हरे हेतु सब करि संचित, करिहें धर्मशास्त्र हम विरचित,
पालहु प्रजा ताहि अनुसार, करहु सबन संग सम व्यवहारा ।
जे समाज - त्रासक, उड़ण्डा, देहु तिनहि न्यायोचित दण्डा,

दोहा—काम, क्रोध, मत्सर तजहु, लोभ, मोह, मद, मान,

मनसा - वाचा - कर्मणा, करहु लोक - कल्याण । ६

सोरठा—शुक्रनीति नृप-काज, विरची शुक्राचार्य तब,

भयेउ सबहि पृथु-राज, चारि फनद, त्रय ताप-हर ।

यहि विधि मुनिन यत्न करि नाना, कीन्ह निरंकुशता अवसाना ।
भयेउ राज-पद धर्म-नियंत्रित, निखिल नृपति-जावन नय-नियमित ।
पै नहि अब नृपतिहि जन-पालक, सचिव यथार्थ राज्य-संचालक ।
जन - विश्वास - पात्र, तद्देशी, विग्रह - संधि-प्रवीण विशेषी,
जेहि धर्मार्थ काम कर ज्ञाना, लखि लक्षण जेहि नर पहिचाना,
निरहंकारी, मत्सर-हीना, जो नित नृपति-प्रजा हित लीना,
मृदु-भाषी, कृतज्ञ, गुण-दर्शी, सतत क्षमी नहि सतत अमर्षी,
चित्तस्थिर, जित-इन्द्रिय जोई, सचिव सुयोग्य नीति कह सोई ।

दोहा—अन्य अनुचरहु याहि विधि, सदा परखि पहिचानि,

रहत नियोजत जो नृपति, होति नाहि हित-हानि । ७

सचिव अनुचरहु समुचित पायी, रहहि सतर्क सतत नररायी ।
दुष्कर त्यागब स्वाथे समूला, दुर्लभ मनुज सदा-अनुकूला ।
सचिव, सभासद, सुहृद, सजाती, घेरे रहत नृपहि दिन राती ।
एक न अस जेहि इच्छा नाही, रहहि भूप मोरेहि वश माहीं ।
ताते नीति-निपुण नरनाथा, राखत राज्य-सूत्र निज हाथा ।
काहू पै न पूर्ण विश्वासा, पै सब प्रति प्रतीति-आभासा ।
भृत्य आदरहि सुहृद समाना, सुहृद सहोदर सम सन्माना ।
सादर संग करहि व्यवहारा, राजपाट जुनु तिन कर सारा ।

दोहा—प्रतिनिधि मात्रहि आपु कहँ, चतुर नृपति दरसाय ,

आप्त, सचिव, सामन्त, जन, लेय सबहि अपनाय । ८

अति शंका, अतिशय विश्वासा, होत उभय ते नृप-हित-नाश ।
अति प्रतीति संतन गर फाँसी, मरत अकाल-मृत्यु विश्वासी ।
जेहि विश्वास काहु पै नाही, जियतहु मृतवत सोउ जग माहीं ।
ताते 'अति' दुहुँ ओर विहायी, गहत मध्य-पथ नृप सुखदायी ।
बहु-संख्यक मनुजन कहँ त्यागी, उचित न होब एक-अनुरागी ।

तदपि एक जो गुणन-निकेतू, त्यागहि अगणित नर तेहि हेतू ।
आपन रिपु-सँग जिन कै प्रीती, मृदु भाषहि, नहि करहि प्रीती ।
कबहुँ जासु धन-मान विनासा, उचित न बहुरि तासु विश्वासा ।

दोहा—होत पात्र-सम जल यथा, तिमि नृप धरहि स्वरूप,

मृदु रहि सरहि न काज जब, प्रकटहि निज यम-रूप । ६
नृप केतनहु मृदुना-आवासू, दण्डहि अतिम आश्रय तासू ।
देव न मनुजहि तात ! नरेशा, दण्डहि तेहि दिग एक विशेषा ।
सोइ आदर्श राज्य, सोइ राजा, अभय करन जो प्रजा-समाजा ।
धर्म जदपि जग-धारणहारा, टिकेउ मोउ लै दण्ड-महारा ।
तदपि दण्डहू नहि स्वाधीना, तासु प्रयोगहु धर्म-अधीना ।
लौकिक, शास्त्र-विहित व्यवहारा, सोई दण्डनीति-आधारा ।
प्रिय अप्रिय सब ताहि समाना, समतहि राजदण्ड कर प्राणा ।
माता, पिता, गुरुहु किन होई, दण्डनाय अपराधी जोई ।

दोहा—दण्ड विनाशक काल-सम, विधि-सम अटल विधान,

जागरूक शंकर सदृश, रक्षक विष्णु समान । १०
थापब शान्ति राज्य निज माहीं, कठिन काज मारं मन नाही ।
राजा, राज्य, समाज-विनासी, बाह्य रिपुहि जन-सर्वेस नासी ।
दण्डहि युद्ध - रूप पुनि धारी, रक्षत राष्ट्र शत्रु - संहारी ।
तदपि तात ! मोहि नृप सोइ भावत, करि उपाय जो समर बरावत ।
केतनहु कोउ नृप बली, प्रवीणा, युद्ध माहि जय दैव-अधीना ।
नाहि दैव पर जासु भरोसा, दंत परिस्थिति कहैं सो दोषा ।
विषमस्थिति या दैव-वशाता, रण-परिणाम न निश्चित ताता !
ताते साम, भेद अरु दाना, अपनावत नृप नीति-निधाना ।

दोहा:—बोली विविध खग-शब्द जिमि, गहत किरात विहंग,

करत स्ववश नृप शत्रु निमि, रेंगि आपुहि तिन रङ्ग । ११
सखा सुहृद बनि, हित प्रकटायी, दंत रिपुहि दुर्व्यसन सिखायो ।
मृगया, द्यूत, मद्य अरु नारी, समय-मुयश-धन-बल अपहारी ।

देत अरिहिं इन माहि लगायी, आपु बसत संयम अपनायी ।
 भव्य भवन, मनहर उद्याना, करवावत अरि निर्माणा ।
 तासु कोष यहि भाँति नसावत, निज धन क्रम-क्रम आपु बढ़ावत ।
 भाग्य बरनि तेहि सिखवत तोषा, आपु करत पुरुषार्थ-भरोसा ।
 जब धनहीन क्लेश रिपु पावत, साधु-विप्र-धन-हरण, सिखावत ।
 प्रायश्चित्तहु बहुरि बतावत, यति बनाय तेहि विपिन पठावत !

दोहा :—यद्यपि गहित पंथ यह, कहेऊँ तथापि बग्यानि ,
 राजनीति मायामयी, उचित लेब सब जानि । १२

जब लगि सबल शत्रु नरनाथा ! आत्म-घात संगर तेहि साथ ।
 बहति जबहिं सुरसरि घहरायी, बचत वेत्र लघु शीश नवायी ।
 घृहदाकारहु तरु प्रतिकूला, नष्ट होत अवनीत समूला ।
 तिमि आपन-पर-बल पहिचानी, अवसर परखि आचरहि ज्ञानी ।
 रिपु प्रकृतिहिं नित परखत रहही, जस रुचि सोइ करहि, सोइ कहही ।
 मानी देखि करहि सन्माना, लोभि विलोकि देहि धन-दाना ।
 प्रकट चकित रहि हरिण-समाना, गुप्त सतर्क सजग जिमि श्वाना ।
 ईगितज्ञ रहि काक स्वरूपा, काटि देय दुर्दिन निज भूपा ।

दोहा :—धारहि घट सम शीश निज, जब लगि शत्रु प्रचण्ड,
 लखि अवसर प्रस्तर पटकि, फेरि करहि शत खड । १३

यद्यपि साम दान फल-दायक, भेदहि नीति-वृन्द महीं नायक ।
 कर्म - प्रधान युद्ध - व्यापारा, बुद्धि - प्रधान नीति - व्यवहारा ।
 भेद विशुद्ध बुद्धि - खेलवारा, ताते सोइ सब नीतिन - सारा ।
 नृप जो साम दाम पहिचाना, सोऊ करत भेद-सन्माना ।
 आपु सबल सँग करत मिताई, देत अरिहिं तेहि संग जुभायी ।
 रण - भूमिहु महीं भेद सहारे, सहजहिं जात शत्रु संहारे ।
 कीन्ह प्रथम मै 'गणन' बखाना, ऐक्यहिं तिन कर जीवन प्राणा ।
 केतनहु बली होय कोउ राजा, करि न सकत रण गणन-अकाजा ।

दोहा—एक भेद तजि और नहि, तिनके जय हित नीति,

नासत प्रथम मतैक्य जो, सकत सोइ गण जीति । १४
नीति-त्रयी मैं बरनि सुनायी, गहि जेहि पूर्व नृपन श्री पायी ।
तदपि गौण यह नीति पसारा, युद्धहि अंत राज्य - आधार ।
वर्ण - व्यवस्था, आश्रम धर्मा, ज्ञान - ध्यान यज्ञादिक कर्मा,
कृषि-गोधन वणिगन-व्यापारा, विविध शिल्प, बहु कला-प्रसारा,
वैवाहिक जीवन, सुत जन, धन, औरहु जे सामाजिक बंधन—
रक्षण सब कर रण-महि माहीं, समर-विजय बिनु कछु कहूँ नाहीं !
उपवन - रक्तक कण्टक जैसे, युद्ध मनुजता रक्तक तैसे !
बसत विहग जिमि वृक्ष सुखारे, तैसेहि संस्कृति शूर - सहारे ।

दोहा—भोगत सबलहि धन-विभव, अजित निबल-प्रयास,

जिमि पिपोलिका-श्रम-रचिन, डोह करत आहि वास ! १५
सोरठा—श्रुति, इतिहास, पुराण, सतत प्रसंसत अध्वरहि,
मोरे मत नहि आन, यज्ञ तात ! रण-यज्ञ सम ।

शूर नरेश यज्ञ यजमाना, अश्व - निकर अध्वर्यु समाना ।
मत्त मतंगहि ऋत्विज ताता ! दुंदुभि - वृन्द यज्ञ - उद्गाता ।
व्यूह-विधान त्रयाग्नि सोहायी, बलि-पशु निखिल शत्रु-कटकाई ।
तोमर, शक्ति, खड्ग सुक सारे, स्रवहि कराल बाण अनियारे ।
उभय सैन्य - बिच रिक्तस्थाना, यज्ञ - वेदिका सोइ महाना ।
'मारु ! काटु !' ध्वनि रण जो होई, साम-गान जानहु तुम सोई ।
राज - चिंघार धनुष - टंकारा, वषटकार रव सोइ अपारा ।
रुधिर - धार पूर्णाहुति - दाना, विजय पूर्ण क्रतु-अंतस्नाना !

दोहा—त्यागहि तप कर सार जो, रण ते बढ़ि तप नाहि,

देत शरीरहु त्यागि निज, शूर समर-महि माहि । १६
होय आपु जब नृप दृढ़-मूला, सैनिक तुष्ट, प्रजा अनुकूला ।
समर-निपुण गज, अश्व, पदाती, प्रचुर यंत्र, आयुध बहु भाँती ।
रचि प्रसंग कछु, वाद बढ़ायी, जाय सवेग शत्रु-पुर धायी ।

शान्ति-व्यसन जेहि नृप महँ होई, करत न कबहुँ आक्रमण सोई ।
 आत्म-रक्षणहि सर्वस मानत, चढ़त आपु अरि तब रण ठानत ।
 नीति आक्रमक द्रुत जय-दायी, रक्षहु कर सोई श्रेष्ठ उपायी ।
 तड़कि तड़ित जिमि एक निमेषा, गिरति जहाँ कछु रहत न शेषा ।
 तैसेहि शूरहु प्रथम - प्रहारी, रिपु - मर्मस्थल देत विदारी ।

दोहा—याहि विधि अरि-सैनिक, सुहृद, प्रजा माहि भरि भीति,

योरेहि बल ते रिपु प्रबल, सकत कुशल नृप जीति । १७
 जब नहि विपुल शक्ति निज पासा, समर माहि नहि जय-विश्वासा ।
 निष्फल सामहु, दामहु, भेदू, तबहुँ करहि नहि नृप मन खेदू ।
 सबल रिपुहि लखि करत चढ़ाई, लेय दुर्ग महँ आश्रय धायी ।
 जनपद-प्रतिनिधि, धनिक प्रजाजन, सचिव, पुरोहित, सुहृद, राजजन ।
 तजहि न इनहि चतुर नरनाथा, राखहि दुर्ग माहि निज साथी ।
 क्षेत्रन ते द्रुम अन्न मँगायी, राखहि सकल दुर्ग महँ लायी ।
 सकहि न जतिक धान्य सँभारी, जेहि थल तहाँहि देय सब जारी ।
 सकल सरित-सेतुन कहं तोरी, देय तड़ाग सरोवर फोरी ।

दोहाः—कूप-वारि जां नहि सकहि, नृपांत बहाय सुखाय,

विष मिलाय दूषित करहि, सकहि न अरि सोउ पाय । १८
 जिमि रस लेत मधुप भिनु तरु-क्षति, लेय प्रजा ते कर तिमि नरपति ।
 तदपि करहि जब सबल चढ़ायी, दुर्दिन-घटा घिरहि जब आयी ।
 धनिकन ते धन याचि उधारा, करै नृपति बाहिन विस्तारा ।
 लोभ-निरत, निज स्वार्थहि पागे, देहि धनिक जो धन नहि माँगे ।
 तजि संकोज हरहि धन राजा, हान देय नहि राज्य-अकाजा ।
 रक्षत प्रजहि नृपति सब काला, रक्षहि प्रजहु विपति भूपाता ।
 विज्ञ प्रजहि कतव्य बतावाहि, धनिक देहि, नृप-कोष बढ़ावहि ।
 शिल्पी करहि शस्त्र निर्माणा, सब मिलि करहि राज्य-कल्याणा ।

दोहाः—परहि विपति जब देश पै, सकल भेद बिसराय,

चारि वर्ण, योगी-यतिहु, आयुध लेहि उठाय । १९

विप्र, वैश्य, शूद्रहु किन होई जन-रक्षक जो, क्षत्रिय सोई ।
 दैन सकत जो प्रजहि सहाग, मृगक श्वान सम सो भू-भारा ।
 सो जल-विरहित जलद समाना, काउ मतंग-सदृश निष्प्राणा ।
 अन्य सकल नृप चर्म-मृगेशा, प्रजहि उबारत सोइ नरेशा ।
 निज क्षेमहि जो चाहनहारा, क्षत्र-कलंक ताहि धिकारा !
 निहति दम्यु जो प्रजहि बचावा, शास्त्र पुराण तामु यश गावा ।
 रुधिर-धार अष्टांग नशया, देत शूर सब पाप बहायी !
 युद्ध समान पुण्य यश-दाता, नहि कोउ धर्म विश्व महँ ताता !”

दोहा:—समर-प्रशंसा भीष्म-मुख, मुनि याहे भांति अशेष,
 चकित-चित्त भाषे वचन, शान्ति-ननधान नरेश— २०
 सोरठा.—“कीन्ह अदिसा-गान, नित्यधर्म तेहि कहि प्रथम,

अब प्रभु ! करत बखान, कम अम दिसा-मय समर ?”
 प्रश्न समर्म मुनत नृप केरा, विहँसे मरिमुन, हरि दिशि हेरा ।
 प्रभु-मन जानि, हृदय मुख मानी, कहेंउ नृपहि अधिकारी जानी—
 “नित्यधर्म मैं प्रथम गनाये, त श्रुति-मन्मत, शास्त्रन-गाये ।
 कहत मुनत सब नरन लखाहीं, पै आवरत मुनिहु भय खाहीं ।
 मुजनहि वसत जो यहि जग माहीं, करत कुर्म अधम-जो नाहीं ।
 हांत प्रशस्त धर्म-पथ ताना, सराय-रहित, नित्य मुखदाता ।
 खल सब करत प्रजा-अवसादा, उजत धर्महु महँ अपवादा ।
 तजि तब मुजन विदित-व्यवहारा, आपद्धर्म करत म्वाकारा ।

दोहा:—राजधर्म कहँ तात ! मैं, मानत आपद्धर्म,
 प्राकृत जन हित जो कुकृत, नृप-हित सोइ मुकर्म ! २१
 तैसेहि एक देश कर धर्मा, अन्य देश महँ हांत अधर्मा ।
 आजु जाहि सब धर्म बखाना, कालिह होत सोइ पाप महाना ।
 अगणित सूक्ष्म प्रसंग बखानी, आपद्धर्म सिखावत ज्ञानी ।
 सपे-यज्ञ अति कर भयावन, भे उत्तङ्क ताहि करि पावन ।
 राक्षस यज्ञहु कर कहावा, करि तेहि भयग पराशर पावा ।

वधिक सदृश पापी नहि आना, नहि अभोज्य कछु जस मृत श्वाना ।
विश्वामित्र तपी मुनिरायी, परि दुष्काल श्वपच गृह जायी ।
बरजेउ वधिक तबहुँ नहि माना, भक्षि श्वान मृत रच्छे प्राणा !”

दोहा:—कोन्ह प्रश्न मुनि धर्म नृप, “जो प्राणहि सवेस्व,

रहेउ कहाँ तब तात ! जग, नित्यधर्म - वर्चस्व ? , २२

मुनिजन निज निज मत-अनुसारा, बरनत धर्म अनेक प्रकारा !
रही श्रुतिहु जब नाहि प्रमाणा, केहि विधि होय धर्म कर ज्ञाना ?
बढ़त जात मन संशय-भारा, बरनहु तात ; सहित विस्तारा ।”
कहेउ पितामह—“मम मत ताता ! सिरजेउ जन-हित धर्म विधाता ।
सब-लोक-हितकर सोई धर्मा, जन-हित-नाशक सोइ अधर्मा ।
संत आचरत लखि हित-ज्ञानी, अक्षर पकरि चलत अज्ञानी ।
सर्व-भूत-हित कर जो कारण, सोई सत्य, न शब्दोच्चारण ।
प्राणिन देत अभय जो दाना, सोइ अहिंसा धर्म महाना ।

दोहा:—वेरि हरत दुजन जबहि, सुजनन कर धन प्राण,

रहति अहिंसा मोन जा, हिंसा सोइ महान ! २३

बाह्य आचरण धर्म न होई, बसत मनुज-मानस महँ सोई ।
मनही सब कर्मन - आधार, मन - संजात आचरण सारा ।
शुद्ध अशुद्ध हांत मन जैसा, तैसिहि बाणी, कर्महु तैसा ।
परिहि धर्म-संकट जब प्राणी, निरखहि प्रथम शास्त्र श्रुति-वाणी ।
तर्कहु-सम्मत शास्त्र जो होई, पालहि तेहि सब संशय खोयी ।
करहि तर्क जो शास्त्र-विरोधू, लेहि मनुज निज मानस शोधू ।
पर-हित-रत जब बुद्धिहि पावहि, करहि सोइ जो तर्क बतावहि ।
शास्त्र तर्क दोउन सनमानी, रहत आधारत संतत-ज्ञानी ।”

दोहा:—कहे भीष्म निश्छल वचन, अनुमोदे सब व्यास,

उपजेउ धर्म नरंश हिय, नवस्फूर्ति, विश्वास । २४

हरिवंश राय 'बच्चन'

बच्चन की गायना हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय नवयुवक कवि के रूप में होती है। वे अपने काव्य-गायन और सरल, सरस भावों की अभिव्यक्ति दोनों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी कविता ने हिन्दी-भाषी जनता के मन में आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रति प्रेम की भावना उपलब्ध की है। बच्चन की कविता में प्रसाद गुण की इतनी अधिकता है कि कहीं-कहीं वे गद्यात्मक हो जाते हैं। पर अधिकतर उनकी अभिव्यक्ति आवेगमयी होती है और कल्पना का स्थान अनुभूति ले लेती है। कवि जीवन की साधारण मानवीय अनुभूतियों के निष्कपट प्रकाशन को ही कविता मानता है। ये अनुभूतियाँ सुख की भी होती हैं—विषाद की भी। इन में वियोग की वेदना भी अभिव्यक्त होती है और सुख के मिलन का उल्लास भी। कवि जीवन के प्रति एक ऐसी आत्मीय घनिष्टता का स्वरूप लेकर चलता है कि कहें भी छायावादी कल्पनाशीलता उसके काव्य में नहीं आने पाती।

संगीत बच्चन की कविता का सबसे बड़ा गुण है। यह संगीत बड़े उच्छ्वसित हृदय में उनकी कविता में उमड़ता है। इस संगीत की तन्मयता और स्वर-लयता पाठक को—श्रोता को विमग्न कर देती है। बच्चन अपनी कविता में एक मादक वातावरण का सृजन करते हैं। इस मादकता के भीतर जीवन का प्रखर सत्य होता है और उक्ति का वैशिष्ट्य भी। भावाभिव्यक्ति की मौलिकता और सहृदयता कवि को अपना स्वतन्त्र स्थान प्रदान करती है। जहाँ कवि कल्पना का आश्रय लेता है वहाँ उसकी कल्पना जीवन के वास्तविक आधारों पर आधारित होती है—किन्हीं अज्ञात स्वप्नशील माया-रूपों पर नहीं। निराशावाद के कवि के रूप में बच्चन ने हिन्दी को कुछ मधुरतम भावनाएँ प्रदान की हैं। व्यक्तिवाद उनकी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति है। लोक-जीवन की ओर से पूर्णतया उदासीन न होते हुए भी कवि कहीं वस्तुमत्ता के प्रति उस

सीमा तक सजग नहीं हो पाया जितना उसकी पीढ़ी के अन्य कवि ।

बच्चन हिन्दी में हालावाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं । उनकी मधुशाला और खय्याम की मधुशाला ने उन्हें सबसे अधिक प्रसिद्धि प्रदान की । इन पुस्तकों में हाला का गुण-गान आलंकारिक रूप से किया गया है । कहीं-कहीं कवि की यह प्रवृत्ति पलायनवाद की सीमा पर पहुँच जाती है । परन्तु बच्चन एक विकासशील व्यक्तित्व लेकर आये थे । वे यहीं तक सीमित न रह सके और मधुबाला, मधुकलश में उन्होंने कुछ ऐसी कविताएँ लिखीं जो हिन्दी की श्रेष्ठ कविताओं में गिनी जाती हैं । इन कविताओं में जो व्यक्ति-दर्शन है, उससे भले लोगों का मतभेद हो और आलोचकों ने उनकी आलोचना सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से की भी है पर उनके पीछे जो कवि-हृदय है, आत्मा का अविनाशी संगीत है, जो अभिव्यक्ति की ईमानदारी है, वह प्रशंसनीय है । हिन्दी में हालावाद समाप्त हो गया पर मधुबाला और मधुकलश की कविताएँ अपनी यथार्थता और जीवन के सत्य के कारण अमर रहेंगी ।

बच्चन की प्रतिभा का प्रौढ़तर रूप उनकी निशा-निमंत्रण और एकान्त संगीत नामक पुस्तकों में प्रकट हुआ । गीतकार के रूप में वे बड़ी सफलता के साथ सामने आये और इन पुस्तकों की मार्मिकता और प्रेमानुभूति की तीव्रता ने हिन्दी के पाठकों को मुग्ध कर लिया । निशानिमंत्रण आद्योपान्त एक विरह-काव्य है और उसमें ऐसी आत्मिक विह्वलता है जो पाठक को भुलाये नहीं भूलती । सीधीसादी भाषा में जीवन के बड़े से बड़े और कष्ट से कष्ट सत्य को प्रकट कर देना बच्चन की अपनी विशेषता है । कहीं कोई कौशल का आयोजन नहीं—कहीं कल्पना की अधिक उड़ान नहीं, फिर भी ऐसा लगता है जैसे जीवन के गहरे से गहरे स्वर इन गीतों में फूट पड़े हैं । एकान्त संगीत में अनुभूतियों की विविधता है और कवि

की निरीक्षण-शक्ति का असाधारण परिचय इन गीतों से मिलता है। कवि की भावनायें पहले से अधिक व्यापक हो गयी हैं और जीवन के अनेक क्षेत्रों का स्पर्श करने लगी हैं।

बच्चन ने छायावाद की स्वप्न-शीलता, अयथार्थता और अत्यधिक कल्पनावृत्ति के विरुद्ध विद्रोह करके अपने आप में विलीन होती जानेवाली हिन्दी-कविता को जीवन के प्रशस्त राज-मार्ग की ओर मोड़ा है। उन्होंने छायावाद के विरुद्ध विद्रोह कर एक स्वतन्त्र काव्य-दर्शन को जन्म दिया है और कविता को हृदय के जीवित यथार्थों पर आधारित कर उसे सर्वजन-सुलभ बनाया है। भाषा के क्षेत्र में बच्चन की देन और बड़ी है। इस दृष्टि से उनकी तुलना मैथिलीशरण गुप्त से की जा सकती है। छायावाद की भाषा में काव्य-वैभव और सौन्दर्य-निष्ठा भले अधिक हों, पर वह जन-जीवन से दूर है। बच्चन की भाषा अपने प्रवाह, सरसता और मिठास के कारण हृदय पर सीधे प्रभाव डालती है। भाषा और अभिव्यक्ति, अन्तर्स्थ और काव्य-दर्शन सभी क्षेत्रों में बच्चन क्रान्तिकारी हैं।

आकुल अंतर, बंगाल का काल, सतरंगिनी, मिलन-यामिनी आदि बच्चन की अन्य काव्य-कृतियाँ हैं, जो हिन्दी-जनता द्वारा अपनायी गयी हैं। जीवन का निराशावादी दृष्टिकोण से देखना छोड़ कर इधर कवि पुरुषार्थ और विश्वास के क्षेत्र में आगे बढ़ा है। सतरंगिनी में कवि नया संदेश हमें सुनाता है। बच्चन से हिन्दी को अभी आशाएँ हैं। बच्चन और उन जैसे नये कवियों का कथा-काव्य और प्रबंधत्व की ओर भी ध्यान देना चाहिए। ऐसी समर्थ अभिव्यक्ति पा कर वे उस ओर भी उतने ही सफल होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि बच्चन ने हिन्दी में एक नयी धारा बहायी है और नयी पीढ़ी के बहुत-से कवियों पर उनकी काव्य-शैली का प्रभाव पड़ा है।

तुम गा दो

(१)

तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए !
 मेरे वर्ण-वर्ण विशृङ्खल, चरण-चरण भरमाए,
 गूँज-गूँजकर मिटनेवाले मैंने गीत बनाए,
 कूक हो गई हूक गगन की
 कोकिल के कंठों पर,
 तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए ।

(२)

जब-जब जग ने कर फैनाए, मैंने कोष लुटाया,
 रंक हुआ मैं निज निधि खोकर जगती ने क्या पाया !
 भेंट न जिसमें मैं कुछ खोजूँ
 पर तुम सब कुछ पाओ,
 तुम ले लो, मेरा दान अमर हो जाए !
 तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए !

(३)

सुंदर और असुंदर जग में मैंने क्या न सराहा,
 इतनी ममतामय दुनिया में मैं केवल अनचाहा;
 देखूँ अब किसकी रुकती है
 आ मुझपर अभिलाषा,
 तुम रख लो, मेरा मान अमर हो जाए !
 तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए !

(४)

दुख से जीवन बीता फिर भी शेष अभी कुछ रहता,
 जीवन की अंतिम घड़ियों में भी तुमसे यह कहता,

सुख की एक साँस पर होता
 है अमरत्व निछावर,
 तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जाए !
 तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए !

अँधेरे का दीपक

है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(१)

कल्पना के हाथ से कमनीय जो मंदिर बना था,
 भावना के हाथ ने जिसमें वितानों को तना था,
 स्वप्न ने अपने करों से था जिसे रुचि से सँवारा,
 स्वर्ग के दुष्प्राप्य रंगों से, रसों से जो सना था,
 टूट गया वह तो जुटाकर ईंट, पत्थर, कंकड़ों को,
 एक अपनी शांति की कुटिया बनाना कब मना है ?
 है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(२)

बादलों के अश्रु से धोया गया नभ-नील नीलम
 का बनाया था गया मधु-पात्र मनमोहक, मनोरम,
 प्रथम ऊषा की किरण की लालिमा-सी लाल मंदिरा
 था उसी में चमचमाती नव धनों में चंचला सम,
 वह अगर टूटा मिलाकर हाथ की दोनों हथेली,
 एक निर्मल स्रोत से तृष्णा बुझाना कब मना है ?
 है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(३)

क्या घड़ी थी एक भी चिंता नहीं थी पास आई,
 कालिमा तो दूर, छाया भी पलक पर थी न छाई,
 आँख से मस्ती झपकती बात से मस्ती टपकती,

थी हँसी ऐसी जिसे सुन बादलों ने शर्म खाई,
वह गई तो ले गई उल्लास के आधार, माना,
पर अथिरता पर समय की मुसकराना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(४)

हाय, वे उन्माद के भोके कि जिनमें राग जागा,
बैभवों से फेर आँखें गान का वरदान माँगा,
एक अंतर से ध्वनित हों दूसरे में जो निरंतर,
भर दिया अंबर-अवनि को मत्तता के गीत गा-गा,
अंत उनका हो गया तो मन बहलने के लिए ही.
ले अधूरी पक्ति कोई गुनगुनाना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(५)

हाय, वे साथी कि चुंबकलौह से जो पास आए,
पास क्या आए, हृदय के बीच ही गोया समाए,
दिन कटे ऐसे कि कोई तार वीणा के मिलाकर
एक मीठा और प्यारा जिंदगी का गीत गाए,
वे गए तो सोचकर यह लौटनेवाले नहीं वे,
खाज मन का मीत कोई लौ लगाना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

(६)

क्या हवाएँ थीं कि उजड़ा प्यार का वह आशियाना,
कुछ न आया काम तेरा शोर करना, गुल मचाना,
नाश की उन शक्तियों के साथ चलता जोर किसका,
किन्तु ऐ निर्माण के प्रतिनिधि, तुम्हें होगा बताना,
जो बसे हैं वे उजड़ते हैं प्रकृति के जड़ नियम से,
पर किसी उजड़े हुए को फिर बसाना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

निर्माण

नीड़ का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर !

(१)

वह उठा आँधी कि नभ में छा गया सहसा अधेरा,
भूलि धूसर बादलों ने भूमि को इस भाँति घेरा,
रात सा दिन हो गया, फिर रात आई और काली,
लग रहा था अब न होगा इस निशा का फिर सवेरा,
रात के उत्पात-भय से भीत जन-जन, भीत कण-कण,
किंतु प्राची से उषा की मोहिनी मुसकान फिर-फिर !
नीड़ का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर !

(२)

वह चल के कि काँपे भीम कायावान भूधर,
जड़ समेत उखड़-पुखड़कर गिर पड़े, टूटे बिटप वर,
हाथ, तिनको से विनिर्मित घोंसलों पर क्या न बीती,
ढगमगाए जबकि कंकड़, ईंट, पत्थर के महल-घर;
बोल आशा के विहंगम, किस जगह पर तू छिपा था,
जो गगन पर चढ़ उठाता गर्व से निज तान फिर-फिर !
नीड़ का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर !

(३)

क्रुद्ध नभ के वज्र दलों में उषा है मुसकराती,
घोर गर्जनमय गगन के कंठ में खग-पंक्ति गाती,
एक चिड़िया चोंच में तिनका लिए जा रही है,
वह सहज में ही पवन उंचास को नीचा दिखाती !
नाश से दुख से कभी दबता नहीं निर्माण का सुख,
प्रलय की निश्चिन्धता से सृष्टि का नव गान फिर-फिर !
नीड़ का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर !

लहरों का निमंत्रण

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(१)

रात का अंतिम प्रहर है, झिलमिलाते हैं सितारे ,
वक्त पर युग बाहु बाँधे मैं खड़ा सागर किनारे ,
वेग से बहता प्रभंजन केश - पट मेरे उड़ाता ,
शून्य में भरता उदधि - उर की रहस्य - मयी पुकारें ।
इन पुकारों की प्रतिध्वनि हो रही मेरे हृदय में ,
है प्रतिच्छायायित जहाँ पर सिंधु का हिल्लोल - कंपन ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(२)

विश्व की सम्पूर्ण पीड़ा सम्मिलित हो रो रही है ,
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से पौव अपने धो रही है ,
इस धरा पर जो बसी दुनिया यही अनुरूप उसके—
इस व्यथा से हो न विचलित नींद सुख की सो रही है ,
क्यों धरणि अब तक न गलकर लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के भूमि पर जड़ - तुल्य जीवन ?

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(३)

जड़ जगत में वास कर भी जड़ नहीं व्यवहार कवि का ,
भावनाओं से विनिर्मित और ही संसार कवि का ,
बूँद के उच्छ्वास को भी अनसुनी करता नहीं वह ,
किस तरह होता उपेक्षा - पात्र पारावार कवि का !
विश्व - पीड़ा से सुपरिचित हो तरल बनने पिघलने
त्यागकर आया यहाँ कवि स्वप्न - लोकों के प्रलोभन ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(४)

जिस तरह मरु के हृदय में है कहीं लहरा रहा सर,
जिस तरह पावस - पवन में है पपीहे का छिपा स्वर,
जिस तरह से अश्रु - आहों से भरी कवि की निशा में
नींद की परियों बनाती कल्पना का लोक सुखकर,
सिंधु के इस तीव्र हाहाकार ने, विश्वास मेरा
है छिपा रक्खा कहीं पर एक रस - परिपूर्ण गायन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(५)

नेत्र सहसा आज मेरे तम - पटल के पार जाकर
देखते हैं गल - सीपी से बना प्रासाद सुन्दर,
है खड़ी जिसमें उषा ले दीप कुंचित रश्मियों का,
ज्योति में जिसकी सुनहली सिन्धु कन्याएँ मनोहर
गूढ़ अर्थों से भरा मुद्रा बनाकर गान करतीं
और करतीं अति अलौकिक ताल पर उन्मत्त नर्तन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(६)

मौन हो गंधर्व बैठे कर श्रवण इस गान का स्वर,
वाद्य - यंत्रों पर चलाते हैं नहीं अब हाथ किन्नर,
अप्सराओं के उठे जाँ पग चूठे ही रह गए हैं,
कर्ण उत्सुक, नेत्र अपलक साध देवों के पुरंदर
एक अद्भुत और अविचल चित्र - सा है जान पड़ता,
देव - बालाएँ विमानों से रहीं कर पुष्प - वर्षण !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(७)

दीधे उर में भी जलधि के हैं नहीं खुशियाँ समाती,
बोल सकता कुछ न चठती, फूल बारंबार छाती ।

हर्ष रत्नागार अपना कुछ दिखा सकता जगत को,
भावनाओं से भरी यदि यह फफककर फूट जाती।
सिंधु जिसपर गर्व करता और जिसकी अर्चना को
स्वर्ग भुक्ता, क्यों न उसके प्रति करे कवि अर्घ्य अर्पण।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(८)

आज अपने स्वप्न को मैं सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना सामने अबुधि पड़ा जो,
कुछ विभा उस पार की इस पार लाना चाहता हूँ,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर देख उनसे दूर ही था,
किंतु पाऊँगा नहीं कर आज अपने पर नियंत्रण।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(९)

लौट आया यदि वहाँ से तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर भाग्य जगती का जगेगा,
शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी सरस चैतन्यता में:
यदि न पाया लौट, मुझको लाभ जीवन का मिलेगा,
पर पहुँच ही यदि न पाया, व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा ?
कर सकूँगा विश्व में फिर भी नए पथ का प्रदर्शन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(१०)

स्थल गया है भर पथों से नाम कितनों के गिनाऊँ;
स्थान बाक़ी है कहाँ, पथ एक अपना भी बनाऊँ ?
विश्व तो चलता रहा है थाम राह बनी - बनाई,
किंतु इन पर किस तरह मैं कवि - चरण अपने बढ़ाऊँ !
राह जल पर भी बनी है, रुढ़ि, पर, न हुई कभी वह,

एक तिनका भी बना सकता यहाँ पर मार्ग नूतन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(११)

देखता हूँ आँख के आगे नया यह क्या तमाशा—
कर निकलकर दीधे जल से हिल रहा करता मना - सा,
है हथेली - मध्य चित्रित नीर मग्नप्राय बेड़ा !
मैं इसे पहचानता हूँ, है नहीं क्या यह निराशा ?
हो पड़ी उद्दाम इतनी उर - उमंगें, अब न उनको
रोक सकता भय निराशा का न आशा का प्रवंचन ।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(१२)

पोत अगणित इन तरङ्गों ने डुबाए मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से—बात यह भी जानता मैं,
किंतु होता सत्य यदि यह भी, सभी जलयान डूबे,
पार जाने की प्रतिज्ञा आज बरबस ठानता मैं ।
डूबता मैं, किंतु उतराता सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबे भले ही है कभी डूबा न यौवन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

(१३)

आ रही प्राची क्षितिज से खींचने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य - निर्णायक सितारों ! दो दुआएँ,
नाव, नाविक, फेर ले जा, है नहीं कुछ काम इसका,
आज लहरों से उलझने को फड़कती हैं भुजाएँ,
प्राप्त हो उस पार भी इस पार - सा चाहे अंधरा,
प्राप्त हो युग की उषा चाहे लुटाती नव किरण-धन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमंत्रण !

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

‘अंचल’ हिन्दी-कविता की नयी धारा के प्रभावशाली कवि हैं और उन्होंने कविता को जीवित यथार्थों की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद के प्रवर्तकों में उनकी गणना की जानी चाहिए। छायावाद के बाद हिन्दी-कविता को सामाजिक जीवन और वैयक्तिक अनुभूति के निकट लाने वाले इस कवि ने खड़ी बोली की कविता को नये ढंग से सँवारा है—उसे नया सौन्दर्य-बोध दिया है।

‘अंचल’ की कविता के कई रूप माने जा सकते हैं। एक ओर उनकी रूप के मोह में डूबी शृंगार की भावनाओं से परिपूर्ण वे कवितायें हैं, जो उनकी प्रथम दो कविता-पुस्तकों में—‘मधूलिका’ और ‘अपराजिता’ में मिलती हैं। ये कवितायें छायावाद की स्वप्नशीलता और निस्सारता को चुनौती देकर सामने आती हैं। मानव-सुख तृष्णा, सौन्दर्य के प्रति आसक्ति, युवक-हृदय की मधुर और भावुक कल्पना में, जीवन की भावाकुल तन्मयता और असन्तोष इन कविताओं में भरा पड़ा है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में जयदेव और खैयाम के मिलन से इस कवि व्यक्तित्व का निर्माण होता है और वे कवि की कविताओं में एक मोहिनी ज्वाला पाते हैं।

इसके बाद कवि की दृष्टि सामाजिक विषमता और देश की शोषित जनता की ओर जाती है। कवि की ‘किरण बेला’ और ‘करील’ की कविताओं में वस्तुमत्ता और भावना की तटस्थता देखने को मिलती है। साथ ही कवि की कविता में आज बढ़ता जाता है। उसकी भाषा में एक नया बल - एक नया ढंग फूटता है। क्रान्ति के सशक्त चित्र वह अपनी कविताओं में खींचता है। नवयुग के आह्वान की दुर्दम्य पुकार

हमें इन कविताओं में सुन पड़ती है। श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में दुःख और विपाद के अनुभवों ने कवि की लालसा-लालुपता को संयत किया है और जीवन के स्वर को बल प्रदान किया है। विद्रोह की अन्तः सलिला उनके काव्य में आरम्भ से है और ववि के बाद के दोनों संग्रहों — 'किरण बेला' और 'करील' की कवितायें समाज जीवन से सम्बद्ध होकर भी भावानुभूतियों से निःसृत हुई हैं।

काव्य की भूमि वादों की भूमि नहीं है। वह सब वादों से ऊपर उठ कर जीवन को प्रकाश देने वाली — जीवन को शक्ति और संस्कार देने वाली है। 'लाल चूरन' की कविताओं में एक विद्वान आलोचक के शब्दों में कवि पुनः अपने परिचित देश में लौट आया है — वही देश जहाँ अमराइयों में आम बौरते हैं और उनकी छाया में जीवन और प्रेम अन्तर्गन्ध से भर-भर कर आत्मदान का संदेश देते हैं। 'लालचूरन' में फिः हमें कवि का वही जीवन की लालसाओं से परिपूर्ण रूप देखने का मिलता है। आत्म-निवेदन और आत्म-दान की भावनाओं से परिपूर्ण काव्य जैसे जीवन की प्रच्छन्न सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ फिर चलने लगता है। अपनी अनुभूतियों का कवि भाव-मूर्तियों में फिर जीवित करता है।

जहाँ तक हिन्दी की प्रगतिवादी कविता का सम्बन्ध है, 'अंचल' की देन का ऐतिहासिक महत्त्व है। कवि निराला जैसे युग-प्रवर्तक ने इसको अपने एक लेख में स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में प्रगतिशील 'अंचल' की गति बहुत तेज है। वह शब्दों में फँसती-फँसाती नहीं। 'अंचल' की कविता में भी रोमांस है मगर आधुनिक ढंग का। सामाजिक चेतना संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आयी है, पर पूँजीवाद और रूढ़िवाद के खिलाफ सभी हैं। 'अंचल' की रचना में भी यही है। ऐसा कवि गांधीवाद को छोड़ गया है। उसके मूल सिद्धान्तों की जैसी इसकी भाषा नहीं है। भाव में तीखी चाँट है

समझौता नहीं। आधुनिकों की भाषा का सुधार भी अंचल में मिलता है।” आज जब प्रगतिवाद बहुत कुछ रूढ़ हो गया है और एक विशेष प्रकार की रचना ही उस कोटि में मानी जाती है, तब ‘अंचल’ तथा उन जैसे स्वछंदतावादी अन्य कवियों का नयी-तुली मान्यताओं की सीमा में बंधना असंभव था। ‘लालचूनर’ के बाद ‘अंचल’ का इधर कोई संग्रह नहीं है पर उनकी स्फुट कवितायें सौन्दर्य की चेतना के साथ साथ चिन्तन की गहराई ले रही हैं। स्थायी सांस्कृतिक मूल्यों की ओर उनकी दृष्टि जा रही है और व्यापक राष्ट्रीय और मानवीय अनुभूतियों को काव्य का परिधान पहनाने में वे संलग्न हैं। कृतियों में प्रौढ़ता बराबर बढ़ रही है।

‘अंचल’ की शैली और भाषा बिल्कुल अपनी है। ऐसा तीव्र प्रवाह और रस एवं वातावरण के अनुरूप बदलने वाली नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण भाषा कम कवियों ने पायी है। कविता में कई प्रकार के प्रयोग कवि ने सफलतापूर्वक किये हैं। प्रगतिवाद ने कवि को सामाजिक चेतना के साथ-साथ - अनुभूति प्रक्रियाओं, भावों और संवेदनाओं के नये गठन के साथ बहती बोलती भाषा भी दी है। इसलिए उनकी आरम्भिक कविताओं की और आज की भाषा में अंतर दिखता है। मार्मिकता, स्वछंदतावादी मादकता और राष्ट्रीय आज का सरस सम्मिलन ‘अंचल’ में है। प्रकृति के कुछ अनूठे चित्र भी कवि ने अपनी कविताओं में खींचे हैं।

नया देवता

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

फूटे नये रंग प्राणों में नये राग भाने का
नई ज्योति के निर्भर फूटे अन्धकार हरने का
आग लगी मेघों में रवि की दमकीं दसों दिशाएँ
ये बलिदानों के जलते गौरव की रक्त-शिखाएँ
रुकी पुरानी रात जहाँ श्वासों के पंछी सोए
नक्षत्रों की मरण छाँह में डूबे सपने खोए
रुधिर-सिक्त पथ देख सामने जीवन बने अंगारे
प्रतिद्वन्द्वी जजरे वृहों के टूटे सभी महारे

वज्र बन गया संघर्षों में फिर से मनुज अभागा !

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

भुक्त हैं तृफान, नहीं भुक्तों युग की पतवारें
रुक्ते हैं भूकम्प, नहीं डिगती बल की दीवारें
खण्डित होते खड्ग, अकुण्ठित विद्रोहों की धारें
टह जाते गढ़, अडिग अटल कुर्बानों की मीनारें
हैं अजेय युग-युग से मानव का प्रचण्ड द्रोही-मन
नभ काँपे, पर रहा अकम्पित विश्वासों का यौवन
वह कैसा संकल्प न जो सदियों के सिर चढ़ बाले
वह कैसी ललकार न जो लपटों के बन्धन खोले

वह कैसा इतिहास न जिसने नूतन शोणित माँगा !

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

मुड़ जाते फौलाद, शोषितों की न हड्डियाँ हिलती
यह मानव का हृदय न जिसकी पौरुष-सामा मिलती
है सशक्त पदचाप कि जिसका गर्जन है भयकारी
आज उसी की प्रतिहिंसा की आ पहुँची है भारी

ढहे सुनहले महल भाग्य के मातम की ध्वनि होती
पड़ी मौत के बिस्तर पर लक्ष्मी की सखियाँ रोतीं
थर्राते साम्राज्य विकल होते अधिपति घबराकर
एक बार फिर परिवर्त्तन की भुजा उठी अभ्यंकर

टूट रहा यमदूतों का दम जैसे कक्षा धागा !

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

विकल सूर्य की उन्मद लहरें व्योम चूमने जातीं
पल-पल टपक रहे लोहू की लीकें कढ़ती आतीं
बढ़ी रक्त संताप-तप्त मानव ने जिसको जोड़ा
काल-करोँ ने आज जिसे प्रतिशोधी जान निचोड़ा
उसी रक्त का सत्त्व तड़ित-सा कौंध मशालें बनता
उसी रक्त का ओज गगनमें अरुण ध्वजा-सा तनता
उसी विभा में बर्फीली रजनी की धारा ढलती
ज्वार चढ़े सागर की जिसमें संचित व्यथा मचलती

युग-युग पूजित पापाणों ने चौंक अजीवन त्यागा !

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

मुखर हुआ प्रस्तर-प्रतिमाओं का उजला सूनापन
पूरी हुई अधूरी गाथा शीशदान की पावन
बिखरी लगन समेट दग्ध मानस में जलन लपेटे
ये बेदी की ओर बढ़े आते हैं मनु के बेटे
चला काल गह्वर को इनका रोंर चीरता दलता
उखड़ रहे विषदन्त, विवश सर्पों का झुण्ड दहलता
टूटा मेरुदण्ड शोषण का —यह समता की ज्वाला
देकर अग्नि-किरीट मनुज को बना रही मतवाला

अपने खोए स्वत्व छीनने उठा मनुष्य अभागा !

मूर्ति-मूर्ति मन्दिर-मन्दिर में नया देवता जागा !

मैं तुम्हारे साथ गाती

भाव गीतों का समझती हूँ न पर मैं साथ गाती
मैं तुम्हारे साथ गाती
ज्योति के पायल पहन नक्षत्र - सी मैं जगमगाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

अर्थ समझूँ मैं न—कड़ियों की विकलता जानती हूँ
मैं स्वरां के साथ उठती आग को पहचानती हूँ ।
पूर्णता की व्यास ले ज्यों सरि चलें सागर मिलन को
है तुम्हारे राग में तृष्णा वही—मैं मानती हूँ
लांघ सीमा रिक्तता की मैं चली पूर्णत्व पाने
मैं अपरिचित थी—पवन की लय मुझ आई बुलाने
और मेरे कुल्ल मन में भी पिकी का दाह जागा
छोड़ घंघट और अकुलाहट उठी मैं स्वर मिलाने
मैं सर्जनी प्यार - भानी छाँह - सी हूँ साथ जाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

मुग्ध होठों बीच मिमटी सरी - सी मैं नहाती
दौड़ती फिरती तुम्हारे साथ जीवन की गली में
हूँ घुली जाती लहर - सी मैं तुम्हारी काकनी में
प्राण की यह सिकत तन्मयता—न रस का अन्त जैसे
जग उठा हो मूर्ति का ज्यों देवता प्रस्तर-तली में
वायु चंचल प्राण की किस मुक्ति का मर्मर लिए है
आज मेरा कठ किस मधु का महासागर पिये है
ज्योति यह आनन्द की मन की द्विधाँ भस्म करती
गीत का लयभार मेरे कंकणों को रत किये है
हो शिथिल अवरोह में—आरोह में नभ चूम आती
मैं तुम्हारे साथ गाती

ज्योति - चंचल आरती - जैसी ध्वनित हो थरथराती
 देर तक सुनती रही मैं वाग्विहीना स्वर तुम्हारा
 था न गाने के लिए मुझ से तनिक आप्रह तुम्हारा
 लग रहा था पर मुझे मैं एक क्षण भी रुक न सकती
 प्रेरणा से गति - मुमंत्रित था विवश यह गात सारा
 छोड़ मंदिर मैं निकल आई रही पूजा अधूरी
 थी बड़ी चन्मत्त उत्कंठा नहीं थी सह्य दूरी
 मौन पूजन था वहाँ—मुखरित यहाँ था व्यग्र अगु-अगु
 थी वहाँ निःशब्द स्वीकृति—अब निनादित प्रणति पूरी
 मैं पुलक-पूरित खी-खी सुखपगी बलिहार जाती
 मैं तुम्हारे साथ गाती

मैं तुम्हारे गीत की कोमल कड़ी बन भूम जाती
 भूल जाता प्राण गोपन के युगों की लाज भारी
 भूल जाता दिल घड़ा - भर को अवज्ञाएँ तुम्हारी
 था अधिक कब पास मेरे जो खिपा पाती तुम्हें मैं
 थी स्वयं मैं जुद्ध इतनी बन गई अनुकृति तुम्हारी
 खुल पड़ी वह मूक थी जो खिल उठी जो वंचिता थी
 लुट चली उद्गार बनकर जन्म से जो संचिता थी
 थी पड़ी अवहट्ट निष्ठा की अगति मैं जो समर्पित
 हो गई परिपूर्ण प्लावित - प्रीण - सरि जो रंचिता थी
 खुल गये मीनित नयन ज्यों स्नेह - व्याकुल दीप - बाती
 मैं तुम्हारे साथ गाती

मैं वसन्ती वायु से उठती लना-सी कसमसाती
 रूप पाती रश्मि मुझसे—सृष्टि नव प्राणद विपुलता
 है यही संगीत अम्बर के घनों में पूर्ति भरता
 भीग कर उस तान में शारद निशा अवदात होती
 है वसन्ती तारकों का राग यह पथ - ताप हरता

बाँध लेता है प्रकृति को संचरण पुनर्कावली का
गन्ध के परिप्रोत से बनता सुमन लघु तन कली का
इस अनामी गीत का मैं अर्थ समझी हूँ न अब तक
किन्तु रँग देता यही मुख प्रति पवन की अंजली का
मैं गुँथी जाती इसी की मुग्ध मीड़ों में समाती
मैं तुम्हारे साथ गाती
बिम्ब से प्रतिबिम्ब-सी मिलने चली मैं राग-माती

भरना

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

संघषे तरंगों करती हैं साने में बज उठती झनझन ।
गति फूटी पड़ती कण कण में है आज फटा पड़ता जीवन ।
जब भर भर जाती हो पुरबा बादलकी छातीका विस्रव ।
जब आ आकर टकराती हो प्राणों में दुर्दिनकी धड़कन ।
उन्मत्त किये देती धारा आशीष अमावस लाई हो ।
विद्रोही अंतरकी हलचल कब तक घुपचाप सहे कोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

उस पार दिगंतर से आई संकल्प भरी गति की वाणी ।
ईंगित पर लहराते जिसके तूफान बवंडर अभिमानी ।
यह माना बहती है उनमें यौवन की प्राणमयी धारा ।
पर अपने चीत्कारों की तृष्णा भी तो मेरी पहचानी ।
मैं आज रुकूँ भी तो कैसे जब ओफल कूल बहे जाते ।
संघातों के संगी-साथी विहगों की ममता भी रोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

क्यों आज अचीन्हे की आशा प्यासे प्राणों में बल भरती ?
मंकार डगरके खारों की कुछ मंजिल और निकट करती ।
क्यों स्वप्न अलक्ष्य अतलके ले आता है चिर गृहीन पवन ।
है आज न मस्ती की सीमा नीला अंबर नीली धरती ।

मैं नीले सागर का राही सरसब्ज पिपासा है मेरी ।
आनन्दमयी मेरी सत्ता चिरवधि जड़-स्थिरता है सोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

सम्मुख का पथ ले जाय जहाँ बस, दूर-सुदूर चले जाना ।
है स्रोत निरं निर्जन में भी जब आगे बढ़ बढ़ खो जाना ।
दिन रैन क्षणों की गिनती क्या जो है मिलने की ठान चुका ।
मुझको स्वयंवरा-सा सागर में गाते गाते मिल जाना ।
मत पृछो लय होने का सुख मदमाते जिसका जान सके ।
जो मेट चला अपनी हस्ती कब उसको रोक सका कोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

ओ जाग्रत प्राण ! कहीं का पागलपन है आ आकर घेरे ?
आदेश उमंगों को आता पावन मेरे प्रेमी मेरे ।
प्रतिबंधों में बसने वालो तूफान खड़े पथ हेर रहे ।
सुख कितना लुट-लुट जाने में जो बेहोशी सा बरबस रे ।
साथेकता जीवन की ज्योही बरबादी का पैगाम मिला ।
वह यौवन कसा जिसने चेतनता ले कर बहशत खोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

काफी है एक यही सपना दिनरात बनाने को पागल ।
बस एक मिलनकी अभिलाषा करती रहती प्रतिक्षण चंचल ।
चिर मुक्त तरंगित तालों पर मैं गा गा कर नाचा करता ।
मैं इसीलिये तो गाता हूँ गुंजित हों सूने शैल अचल ।
है दूर विसर्जन की बेला उन्मादी पर्व नहीं आया ।
अभिशाप निराले प्रेमा के समझा वरदान करे कोई ।

अज्ञात महासागर मेरा अज्ञात लिये जाता कोई ।

दलित उत्पीड़ित मनुज !

दलित उत्पीड़ित मनुज सुन ले जरा !
 राजपथ की धूल में बिखरे पड़े ये गान
 ओ निराशा से पराजित स्वप्नदर्शी सुन !
 देख अपना ही बँटा खंडित हृदय
 जोड़ सकता हूँ जिसे मैं
 एक कर दूँगे जिसे ये गीत मिट्टी के अजस्र अजेय
 आ चला आ साथ इस गतिशील युग के !
 है यही वह मार्ग तू अब जान ले
 कर अडिग विश्वास अणु अणु से इसे पहचान ले
 है हमें चलना कि जिस पर
 हमें ही क्यों
 विश्व की—इतिहास की—भविष्य की नव शक्तियों को
 है यही वह मार्ग जो जन-एकता को पारदर्शी ज्योति देता
 देखता तू आग—भीषण यह दवाग
 जल रही धरती युगों की संस्कृति की
 कंठ सूखा—कर रही चीत्कार मानवता
 जल रहा जिसका तृपित कण-कण
 आग यह वैसी नहीं जो ध्वंस कर दे शोषणों को
 चीर दे जो युग-युगों की कालिमा को—अनय शिखरों को
 आग यह मनुष्यत्व को ही जो दहन करती
 सभ्यता के प्राण हरती

आ ! चला आ ! भावना हो क्षुद्र या कि विराट
 है बुझाना यह लपट—यह दाह का विभ्राट
 यह निराशा और जड़ता भूठ है माया
 सत्य केवल एक जीवन का—प्रबल आशा सतत दुर्भेद्य साहस
 बँटा खंडित हृदय ही तेरा तुझे निर्बल बनाता
 जोड़ दे तू खंड दोनों दूर थे जो आज तक
 एक हों दो स्रोत बल-विश्वास के
 सर्वनाशी आग यह जल से न—शोणित से बुझेगी
 सुन अभागे औ' अभाव प्रसित मनुज सुन ले
 देख अपना ही कटा खंडित हृदय ! ले देख !

